# गगनाञ्चल

वर्ष 16 | अंक 3 | 1993

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

**प्रकाशक**

निरंजन देसाई, महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

**संपादक**

डॉ. अमरेंद्र मिश्र

**आवरण**

कांति राय


भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-हराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद), स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। हिंदी और अंग्रेजी की शुल्क दर नीचे दी गयी है। स्पेनिश, फ्रेंच और अरबी त्रैमासिक निःशुल्क हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट, नयी दिल्ली-110002




**मुद्रक**

विमल ऑफसेट 1/11804, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032


**शुल्क दरें**

| एक अंक | वार्षिक | त्रैवार्षिक |
|---|---|---|
| रु. 5.00 | रु. 20.00 | रु. 50.00 |
| £ 1.00 | £ 4.00 | £ 10.00 |
| $ 2.50 | $ 10.00 | $ 25.00 |

ISSN 0971-1430

# गगनाञ्चल

जुलाई-सितंबर 1993

## कविताएँ



## पुस्तकें



## संस्कृति

प्रिय पाठक

हमने अब तक न्यूनतम मूल्य पर परिषद् की हिंदी त्रैमासिक पत्रिका गगनाञ्चल को उपलब्ध कराने का भरपूर प्रयत्न किया है किंतु इस बीच पत्रिका के मुद्रण आदि की दरों में तेजी से वृद्धि हुई है इसलिए विवश होकर जनवरी 1994 से पत्रिका के मूल्य में वृद्धि करनी पड़ी है। हमें आशा है कि आप हमारी इस विवशता को समझेंगे और अपना सहयोग बनाए रखेंगे। परिवर्तित शुल्क दर इस प्रकार है :

| *एक प्रति* | *वार्षिक* | *त्रैवार्षिक* |
|---|---|---|
| रु. 25.00 | रु. 100.00 | रु. 250.00 |
| US $ 10.00 | US $ 40.00 | US $ 100.00 |
| £ 4.00 | £ 16.00 | £ 40.00 |

कृपया ध्यान दें :

1. अपना अग्रिम शुल्क मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट द्वारा भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के नाम भिजवाएं।
2. इन दरों में डाक खर्च भी शामिल है। पंजीकरण डाक का मूल्य अतिरिक्त होगा।
3. अधिकृत पुस्तक विक्रेताओं के लिए पच्चीस प्रतिशत छूट की व्यवस्था है।
4. संस्था/संगठन और पुस्तकालयों के लिए दस प्रतिशत की छूट मिलेगी।

प्रकाशक

## संपादकीय

पिछले दिनों जिन साहित्यिक प्रतिभाओं को उनके शताब्दी वर्ष पर स्मरण किया गया उनमें आचार्य बनारसीदास चतुर्वेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य शिवपूजन सहाय के नाम प्रमुख हैं। अब यह अलग बात है कि शताब्दी वर्ष पर उन्हें स्मरण कर लेने के बाद क्या हुआ। उन साहित्यकारों के अवदान पर विचार कर लेने के बाद हमने उसे अपने जीवन और साहित्य में कहां तक उतारा? अगर कहीं कुछ सार्थक कोशिश हुई तो वह कहां तक सार्थक रही। ये सवाल आज के संदर्भ में इसलिए विचारणीय हैं क्योंकि साहित्य के प्रति आम पाठक की रुचि लगातार घटती जा रही है। वह साहित्य पढ़ने की अपेक्षा दृश्य माध्यमों की ओर अधिक ध्यान दे रहा है। पत्रिकाएं बंद हो रही हैं और जो प्रकाशित हो रही हैं उनकी संख्या बहुत कम है। यह पत्र-पत्रिका के लिए 'अकाल' समय है।

ऐसे में इन शताब्दी समारोहों की चर्चा किसी सार्थक पहल के संदर्भ में हो तब तो बात समझ में आती है लेकिन उन्हें याद करने के लिए याद किया जाए तब कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह सब एक सायास प्रक्रिया के भीतर घटित होता है। कोई साहित्यकार अपने सौ वर्ष पूरे कर लेने के बाद ही यकायक प्रासंगिक कैसे बन जाता है? राहुल सांकृत्यायन, बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय या श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसी प्रतिभाएं हमें उसी समय विशेष रूप से क्यों याद आती हैं जब इनकी जयंतियां मनायी जाती हैं या इनका शताब्दी वर्ष मनाया जाता है? क्या यह सच नहीं कि सौ वर्ष पूरे होने के बाद उन पाठकों को इन नामों को पढ़कर थोड़ा विस्मय होता है जिन्होंने पहले अगर इनके विषय में कहीं पढ़ा भी है तो बहुत कम मात्रा में पढ़ा है। एक विख्यात साहित्यकार जो आजीवन मसिजीवी बना रहकर समाज और राष्ट्र को नयी दिशा दिखाते हुए उसे प्रगति पथ पर बढ़ते जाने को प्रेरित करता है, उसे अपने जीवन काल में वह नहीं मिलता जो उन लोगों को मिल जाता है जिन्हें साहित्य, कला, संस्कृति, समाज या देश से कुछ लेना-देना नहीं है। शताब्दी वर्ष पर एक संकल्प के आधार पर इस पर विचार किया जाना चाहिए कि रचनाकार के रचे हुए को अधिक सम्मान का दर्जा दिया जाए, उसकी कृतियों का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार कैसे हो इस पर विचार किया जाना चाहिए साथ ही श्रव्य-दृश्य माध्यम से उसकी बातों को, विचारों और आदर्शों को जन-जन तक पहुंचाया जाना चाहिए। वे जो आज हमारे बीच नहीं हैं उनके नाम पर समारोह न भी आयोजित किए जाएं तो हमसे किसी प्रकार की शिकायत नहीं करेंगे। संभवतः उन्होंने जीवनभर इन सबकी कामना भी नहीं की होगी। लेकिन व्यावहारिक रूप से उनके विचारों को अधिक से अधिक पाठकों तक जरूर पहुंचाया जाए—किसी स्वस्थ और प्रगतिशील राष्ट्र से यही अपेक्षा की जाएगी।

मुझे लगता है कि लिखित साहित्य की कहीं न कहीं उपेक्षा की जा रही है। वह अधिक लोगों तक अगर पहुंच नहीं पाता तब कहा यह जाता है कि साधन का अभाव है। अगर पाठकों से पूछें तब वे कहते हैं कि उन्हें पढ़ने का समय नहीं मिलता। आखिर इसका क्या कारण है? इस पर विचार किया जाना चाहिए। आज हिंदी जगत में पत्र-पत्रिकाओं का जो संकट है उसके चाहे जितने कारण गिनाए जाएं लेकिन एक कारण यह जरूर है कि

*पाठक पढ़ना नहीं चाहता। उसे लगता है कि बिना पढ़े भी वह जी सकता है। अगर उसने महीने में एक उपन्यास और कुछ कहानियां या साहित्य की दूसरी विधाओं से संबंधित किताबें नहीं पढ़ी तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता। यहां पाठकों के प्रति मेरा दृष्टिकोण साहित्य के आम पाठकों से है जिसकी संख्या अधिक है। उन तथाकथित पाठकों से नहीं है जिनकी संख्या गिनाने लायक है और जो अमूमन दो-चार रंग-बिरंगी पत्रिकाएं खरीदकर हवा में दौड़ते हैं। उनसे साहित्य सुदीर्घकाल तक चल भी नहीं सकता, कभी चला भी नहीं है। जो आम आदमी है या आम पाठक है उसे देखें तो पाएंगे कि वह आर्थिक दुश्चिंताओं में इस कदर घिरा है कि लगातार दुहरे-तिहारे दवाबों के बीच जी रहा है। हमारे रोज के जीवन में चीजों के विज्ञापन और अपसंस्कृति का प्रभाव इतना गहरा होता चला जा रहा है कि वहां साहित्य जैसी निरामिष चीज बस उपेक्षित ही रह जाती है। यह निश्चित रूप से अकाल समय है।*

*'गगनाञ्चल' का पिछला अंक हमने राहुल सांकृत्यायन शताब्दी वर्ष पर उन्हीं पर केंद्रित किया था। उस अंक की तैयारी के सिलसिले में कुछ लेखकों से लेख भेजने का अनुरोध किया था, कुछ लेख हमारे पास अनायास ही आ गए और उपयोगी लगे, हमने उनका उपयोग भी किया। जब अंक प्रकाशित होकर आ गया तब उसी समय हमें दो आलेख प्राप्त हुए जिनके लिए हमारा आग्रह था। उन्हें हम इस अंक में ससम्मान प्रकाशित करने जा रहे हैं। उससे पहले का अंक 'लोक साहित्य' पर केंद्रित था और कुछ कारणवश उस अंक में हम डॉ. विद्याविंदु सिंह और डॉ. शालिग्राम शुक्ल नीर के आलेख नहीं ले सके थे जिन्हें इसमें शामिल किया जा रहा है। इस अंक में भारतीय भाषाओं की चार कहानियां दी जा रही हैं, जिनमें मराठी और मैथिली भाषा से अनूदित कहानियां पहली बार 'गगनाञ्चल' प्रस्तुत करने जा रहा है। विवेकी राय की हिंदी कहानी है और वे भी पहली बार 'गगनाञ्चल' में छप रहे हैं। ऋतुराज, कुमार वीरेंद्र, रमेश मेहता, डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत, रामलखन यादव अपनी रचनाओं के साथ पहली बार प्रवेश ले रहे हैं।*

*हमारे पिछले अंकों पर जिन पाठकों ने अपनी पाठकीय सम्मतियां भेजी हैं, हम उनके आभारी हैं। सभी पत्रों को प्रकाशित करना संभव नहीं होता पर उन पत्रों से इतना लगता है कि हम अपने प्रयास में सार्थक हैं। वे उन पत्रों में अपनी प्रतिक्रियाएं तो व्यक्त करते ही हैं साथ ही पत्रिका की प्राप्ति के लिए भी लिखते हैं। उन पत्रों से ऐसा लगता है कि पाठकीय रुचि मरी नहीं है। वह जाग्रत है और श्रेष्ठ साहित्य अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचे तब वह और भी अधिक जाग्रत होगी। 'गगनाञ्चल' का यह जुलाई-सितंबर अंक है। चौदह सितंबर को प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष के सितंबर माह में हिंदी दिवस मनाया जाएगा। दिसंबर के प्रथम सप्ताह तक विश्व हिंदी सम्मेलन भी होने जा रहा है। विश्व में हिंदी की स्थिति के आकलन के पूर्व हम हिंदी दिवस पर अपने ही देश में हिंदी की स्थिति पर विचार करेंगे और यहां हमें संकल्प लेना है कि यह सब सिर्फ आयोजनों तक, समारोहों तक या गोष्ठियों तक ही न रहे। व्यावहारिक धरातल पर एक ठोस संकल्प के तहत हिंदी के प्रचार-प्रसार और प्रयोग का आकलन किया जाए। निर्धारित कार्यक्रम बने और उस पर अमल हो। हिंदी का स्वेच्छा से अधिक से अधिक प्रयोग हो और इस पुण्य काम में सबका सहयोग प्राप्त हो तब कोई निश्चित परिणाम सामने आएगा।*

**— अमरेंद्र मिश्र**

# राहुल सांकृत्यायन का जीवन-दर्शन

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

महापंडित राहुल सांकृत्यायन अपने में एक साथ कई व्यक्तित्व समोये हुए थे। वे बड़े ही दुर्निवार यायावर थे, उन्हें कोई स्थान, कोई आश्रय, कोई मार्ग, कोई पद बांध नहीं सकता था। वे मिडिल स्कूल पास करते-करते कच्ची उम्र में ब्याह हो जाने के कारण, कुछ महाभिनिष्क्रमण के इरादे से नहीं, घर से वैराग्य होने के कारण बाहर निकल पड़े। वे तो बस एक आतुरता से बंधे देसकोस लांघने के लिए, अनेक प्रकार के लोगों से मिलने के लिए अनेक अनुभवों से सीखने के लिए, पोथियों से सीखने के लिए और मनुष्य को पहचानने के लिए घर से बाहर निकले थे। वह घर उन्हें जीवन भर बिसरा नहीं। जिस पहली पत्नी का उन्होंने मुंह तक देखा नहीं उन्हीं को अपनी आत्मकथा का एक हिस्सा 'कनैला की कथा' समर्पित की। कनैला और अपने ननिहाल पनगहा के बड़े-बूढ़ों को, हमजोलियों को बड़े स्नेह से स्मरण करते थे और इस विश्व यात्री को अपने जनपद से ऐसा प्यार था कि उस आजमगढ़ जनपद के गांव-गांव के नाम के पीछे क्या इतिहास है इस पर उन्होंने खोज की और बड़ा ही गवेषणात्मक निबंध प्रस्तुत किया।

उनकी मेधा-शक्ति अद्‌भुत थी। काशी के अच्छे पंडितों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने परंपरागत संस्कृत की शिक्षा मध्यमा तक प्राप्त की और उनके अध्ययन का आधार इतना पुष्ट था कि वे स्वयं संस्कृत के उच्चतम ग्रंथों का अध्ययन करने में समर्थ थे। जैसे उनका हिमालय की एक-एक घाटी, एक-एक ऊंचाई को देखने से मन नहीं भरता था वैसे ही एक-एक ज्ञान के क्षेत्र में निष्णात होते रहे पर उनका विद्याप्रेमी मन कभी अपने अर्जित ज्ञान से संतुष्ट नहीं हुआ। भाषाओं को सीखने की क्षमता भी उनकी अपूर्व थी। इतने शीघ्र ही वे अपरिचित से अपरिचित भाषा ऐसे सीख लेते थे कि उस भाषा के बोलने वालों को विश्वास ही नहीं होता था कि बचपन से वे हमारी भाषा नहीं बोलते थे। इससे भी अद्‌भुत बात यह थी कि प्रायः जब दूसरी भाषा सीखी जाती है तो पहली भाषा का संस्कार कुछ धूमिल पड़ने लगता है, किंतु राहुल जी के साथ इसके विपरीत रहा। उन्होंने भोजपुरी, हिंदी, संस्कृत का अधिकार कभी नहीं छोड़ा। वर्षों-वर्षों वे अपने परिवेश से बाहर रहे पर आजीवन वे भोजपुरी भाषियों से ठेठ भोजपुरी में बात करते रहे। उन्होंने जब जनपदीय आंदोलन चलाया तो लोगों ने पहले कुछ संदेह की दृष्टि से देखा किंतु राहुल जी का इरादा साफ था। वे जनपदीय भाषाओं के संस्कार से हिंदी को और जीवंत बनाना चाहते थे। हिंदी का आधार विस्तृत और पुष्ट बना देना चाहते थे। वे बराबर यही सोचते थे, यही कहते थे कि

हिंदी एक बड़े स्वीकार्य मन की भाषा है। उसमें ऊंच-नीच नहीं है, उसमें सहज संप्रेषणीयता है इसलिए उसमें इतनी समृद्ध जनपदीय भाषाओं की ऊर्जा मिलती रहती है।

उनकी बेचैनी केवल जानने और सीखने तक सीमित नहीं थी। वे जो भी जानते थे, सीखते थे उसे अपने व्यापक हिंदी समाज के साथ बांटने की बड़ी बेचैनी में रहते थे। कभी-कभी तो उन्हें इतनी हड़बड़ी रहती थी कि अपनी पांडुलिपि दोहराते तक नहीं थे। पूछने पर कहते थे कि कोई यही अंतिम सत्य नहीं है, न मेरे लिए है न संसार के लिए, पर जो भी मेरे हाथ में आया है उसे फिसल जाने देना नहीं चाहता। जिसे नया अनुभव प्राप्त होगा वह इसमें परिवर्तन करेगा और यही मेरे काम की सार्थकता होगी। जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा है कि यह सीखना पोथियों पंडितों, तक ही नहीं था, यह सीखना सामान्य से सामान्य मनुष्य के पास कुछ अद्वितीय अनुभव है, अद्वितीय ज्ञान है जो दूसरों के पास नहीं है उसे भी बहुत बड़े मन से पाये बिना ज्ञान की यात्रा पूरी नहीं होती।

यही कारण था कि वे जितना शास्त्र में रमे उतना ही लोक में रमे। खड़ी जवानी में कुछ ही कविताएं लिखकर इस संसार से विदा लेने वाले विश्राम कवि के 'बिरहों' का संग्रह जब उन्होंने पढ़ा तो उनकी आंखों से अश्रुधार बह चली और यह उद्गार निकलता था कि संस्कृत के इस सिद्ध कवि भवभूति की करुणा यहां लोकरागिनी में फूटी है। न केवल भोजपुरी लोकवार्ता के संग्रह, विश्लेषण और अनुशीलन में स्वयं रुचि दिखलाई और दूसरों को प्रोत्साहित किया, वरन वे जहां जहां रहे उन-उन क्षेत्रों की लोकवार्ता-संपदा को उन्होंने स्वयं प्रकाशित किया और कुछ दूसरों से लिखवाया। यह अद्भुत संगम, *लोक और शास्त्र* का बहुत कम मिलता है और मैंने उनसे सबसे बड़ी दीक्षा इन्हीं दोनों के बीच समन्वय स्थापित करते रहने की पायी। और मैं उनका हृदय से आभारी हूं।

वे वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की काव्य परंपराओं का प्रतिमान चयन करने में लगे तो पूरे भारतीय वाङ्मय का मंथन कर डाला और अत्यंत मनोरम संचय चयन उन्होंने कई भागों में तैयार किया, एक भाग *पालि काव्य धारा* अब छप रही है। इन सभी काव्य धाराओं में चयन के साथ-साथ उनका हिंदी अनुवाद है। उनके लिए ज्ञान के प्रसार के मुख्य माध्यम के रूप में बराबर हिंदी बनी रही।

एक ओर वे इतने सहृदय थे और दूसरी ओर कोश-निर्माण, दर्शन-दिग्दर्शन जैसे कई क्षेत्रों में ऐसी तल्लीनता उन्होंने दिखलाई कि बड़े-बड़े दिग्गज पंडित चकित रह जाते। मुझे कोश-निर्माण के कार्य में उनके साथ दिन-रात जुटना पड़ा था। तभी मैंने अविराम परिश्रम करने का अभ्यास किया और उससे मेरा बड़ा लाभ हुआ। राहुल जी मुश्किल से बीच में आधा घंटे का विराम देकर अठारह-अठारह घंटे जमीन पर बैठकर कार्य कर सकते थे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर के ऊपर वाली मंजिल का बड़ा कमरा याद आता है जो गर्मी में भट्ठी की तरह तपता था, पंखे से आग बरसती थी और हम लोगों को काम की गति में शीतलता प्रदान करती थी। दिन भर में दो-दो सुराहियां दो-दो बार भरी जाती थीं पर पानी पीने और बीच में भोजन करने के अलावा कोई विराम नहीं था।

केवल एक विराम था कि वे बीच में कभी कभी शास्त्रीय चर्चा छेड़ते थे, तो कभी समाज दर्शन की चर्चा करते थे।

इन सबसे अधिक मोहक उनके व्यक्तित्व का वह अंश था जिसमें वे सहज मिठास से मुस्कराकर लोगों के प्रश्नों का उत्तर देते थे, लोगों से मिलते थे पर उत्तर अत्यंत संक्षिप्त होता था और मिलने की शालीनता में भी एक प्रतिषेध रहता था कि काम में रुकावट न हो। उनके जीवन के अंतिम प्रहर में मैं सिर्फ एक बार उनसे मिला तब उनकी याद आधी जाती रही थी पर पुराने परिचितों को वे पहचानते थे, उनसे उनके परिवार के बारे में कुशल-मंगल पूछते थे और फिर हाथ में हाथ लेकर गद्गद् कंठ से रो पड़ते थे। उनके स्मित शोभी व्यक्तित्व को जिसने देखा हो उसे यह रुदन सहा नहीं जाता था। मैं कभी कल्पना नहीं कर सकता था कि शाल-वृक्ष की भांति तना हुआ व्यक्तित्व, हिंदी का अपराजेय योद्धा, दुर्दम्य, सत्यान्वेषी ऐसी स्थिति में भी पहुंचेगा। जिसने इतना सीखा और इतना दिया हो वह इस प्रकार स्मृतिलोप के दंश से आहत होगा। आज उनके जन्म शती के वर्ष पर जब मैं उनके बारे में सोचता हूं तो मुझे अचंभा इस पर नहीं होता कि अपने स्वाध्याय के बल पर उन्होंने सौ से अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं और हर विधा में लिखीं, और न अचंभा इस पर होता है कि इतने देश की यात्राएं कीं, इतनी राहें बदलीं बल्कि सबसे अधिक अचंभा इस पर होता है कि इतनी ऊंचाई पार करने के बाद भी वे इतने सामान्य और सामान्य जन की पहुंच में आने वाले सहज पुरुष बने रहे। उनके बारे में कैसे कहूं कि वे बैरागियों में बैरागी थे, महाराग के साधक थे, कैसे कहूं कि वे गांव घर के मन से जुड़े हुए आत्मीयता की प्रतिमूर्ति थे। ये सभी कथन उनके बारे में एकांगी लगते हैं। ये सभी अपनी-अपनी जगह पर अपने आप में पूरी तौर पर सही नहीं हैं। राहुल बाबा बस राहुल बाबा था। वैसे लोग किसी-किसी भाषा में पचास-सौ वर्ष में पैदा होते हैं। उनका मूल्यांकन उनकी रचना कौशल से करना उनके साथ अन्याय करना है। अनंत की गहराई नहीं नापी जाती उसका विस्तार देखा जाता है। हिंदी का सौभाग्य है कि राहुल का यह विस्तारी व्यक्तित्व हिंदी का व्यक्तित्व भी बन गया है। □

---

*डॉ. विद्यानिवास मिश्र : भारतीय साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति, वेद, उपनिषद् और भाषा विज्ञान तथा संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् लेखक। निबंधों के तैंतीस संग्रह, चार शोध ग्रंथों के साथ-साथ चार संपादित पुस्तकें।*

*संप्रति : प्रधान संपादक, नवभारत टाइम्स, टाइम्स हाऊस, नयी दिल्ली*

*संपर्क : ई-13 गीतांजलि एंक्लेव, नयी दिल्ली*

---

# स्मृति के बहाने राहुल सांकृत्यायन

## शंकर दयाल सिंह

निश्चय ही यह गौरव की बात है कि शताब्दी समारोहों की श्रृंखला में हम एक ऐसे व्यक्ति को याद कर रहे हैं जिसके व्यक्तित्व में स्मरण और विस्मरण, जय और क्षय, स्वीकृति और अस्वीकृति, संग्रह और तिलांजलि, धर्म और व्यवहार सब एक साथ गुंफित हैं। ऐसे आदमी को किस रूप में याद किया जाए। व्यक्ति के रूप में या विधा के रूप में? चरित्र के रूप में या संदर्भ के रूप में? क्रांति के रूप में अथवा सह-अस्तित्व के रूप में।

सच कहें तो जिस व्यक्ति की चर्चा हम यादों की बारात के रूप में करने जा रहे हैं, उसे न पढ़कर समझा जा सकता है और न सुनकर, न उसका विश्लेषण करके। वरन् उसको समझना है तो खुद उसके सांचे में ढलकर ही यह संभव है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन किसी परंपरा के अभिषेक न होकर सदा मेरे सामने ज्योति की एक शिखा रहे। एक ऐसे यायावर के रूप में उन्होंने जीवन जिया जिसे 'स्व' से अधिक 'पर' की चिंता रही। जीवन की अभियान यात्रा में उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा राष्ट्रीय मंचों पर अनेक प्रयोग किए। टिके कम जगहों में लेकिन जहां कहीं वे रहे, उन्होंने अपने संघर्षों की छाप छोड़ी। लेना नहीं, देना ही उनका अभीष्ट रहा। अपने व्यक्तित्व का निर्माण उन्होंने स्वयं किया और जो भी किया डूबकर, पूरे मन से। संन्यासी बने, लेकिन उसमें मन न रमा तो संन्यासी से संन्यास ले लिया। बौद्ध धर्म उनके बुनियादी दृष्टिकोण के अनुकूल था। अतः उसमें दीक्षित हुए। उसमें एक ओर उन्हें सिद्धों की जीवन पद्धति ने कुछ छुआ, वहीं सहज यान ने आत्मसात किया। दुनिया में न कमी है ज्ञानियों की न कमी है पंडितों की, लेकिन ऐसे विरले ही मिलेंगे जिन्होंने ज्ञान को पांडित्य के ऊपर हावी किया हो। राहुल जी ऐसे ही महापंडित थे जिनके लिए पांडित्य, पांडित्य का प्रदर्शन नहीं था।

उन्होंने अपनी शिक्षा एक जिज्ञासु के समान दुनिया की खुली पाठशाला में ली थी। इसके लिए वे जीवन भर प्रयोग करते रहे। मठाधीश से लेकर मार्कसिस्ट तक और राष्ट्रीय आंदोलन से लेकर शिक्षण संस्थाओं में अध्यापकी तक। इस सब के बावजूद दुर्गम घाटियों, पर्वतों, कंदराओं तथा समतल मेड़ों पर चलने वाले राहुल घुमक्कड़ मान लिए गए। स्वयं भी उन्होंने इस शब्द को पसंद किया और कहा—"मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ी से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। ...यह दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें बहुत बड़ी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न पिता का भय और उदास होने की, न माता के आंसू बहाने की परवाह करनी चाहिए, न भूल से विवाह में लायी गयी अपनी पत्नी के

रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए।''

लेकिन राहुल लक्ष्यहीन घुमक्कड़ अथवा यायावर नहीं थे। उनकी घुमक्कड़ी अन्वेषक की थी और उसी का प्रतिबिंब उनका विपुल साहित्य है, जिसमें धर्म, दर्शन, कथा, जीवनी, यात्रा, विज्ञान, राजनीति, इतिहास, भूगोल और साहित्य वैविध्यपूर्ण ढंग से देखने को मिलता है। उनको महापंडित शोभा के लिए नहीं कहा गया, यह शब्द उनके नाम के आगे जुड़कर महिमा मंडित हुआ।

किसी में हमने आसाधारण प्रतिभा देखी, ज्ञान का भंडार पाया तो उसको कभी महामहोपाध्याय, महापंडित और महाप्राण के संबोधनों के साथ विभूषित किया। महामहोपाध्याय हीरानंद शास्त्री, महा. गौरी शंकर हीराचंद ओझा, महा. गंगानाथ झा, महापंडित राहुल तथा महाप्राण निराला। इनमें राहुल जी सबसे अलग, सबसे विलग थे। इसीलिए अनेक रूपों में उन्हें रुपायित करने की कोशिश हुई। घुमक्कड़, अन्वेषक, तत्वज्ञानी, त्रिपिटकाचार्य, भिक्षु, ज्ञानी, महान लेखक, विश्व-यात्री, यायावर, चक्षुज्ञानी—लेकिन अंतिम पड़ाव हुआ महापंडित। हालांकि यह उपाधि काशी के पंडितों ने उन्हें विधिवत एक समारोह में दी, लेकिन यह उपाधि उन्हें न भी मिली होती तो भी उनके पांडित्य में किसी प्रकार की कमी न थी।

जरा गौर तलब कीजिए उस आदमी पर जिसने आज से साठ-सत्तर-अस्सी साल पहले यह समझ लिया था कि आने वाली दुनिया ज्ञान की नहीं विज्ञान की होगी। भारत की परंपरा देखें—वेद, पुराण, उपनिषद, गीता, मीमांसा, तत्त्व ज्ञान-क्या कुछ नहीं मिलेंगे? ज्ञान ही ज्ञान भरा है हमारे शास्त्रों में। सागर जैसे मोतियों की खान है, वैसे ही हमारे शास्त्रों में ज्ञान ही ज्ञान है, फिर भी हम पीछे रह गए और जिन देशों की न कोई शास्त्रीय परंपरा है और न इतिहास की गौरवमयी चेतना, वे हमसे बहुत आगे निकल गए। आखिर क्यों? इसलिए कि उन्होंने ज्ञान को पीछे रखा, विज्ञान को आगे। ज्ञान सिद्धांत है, विज्ञान व्यवहार। आज की दुनिया सिद्धांतों की नहीं, व्यवहारों की है। राहुल जी ने इसे समझा था और उन्होंने 'विश्व की रूपरेखा' तथा 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' जैसी पुस्तकों को लिखकर इसी कमी को पूरा करने की कोशिश की थी। कुछ ऐसी अंतर्दृष्टि थी उनके पास जिससे वे विज्ञान को दर्शन से और दर्शन को समाज शास्त्र से आबद्ध करके चलते थे।

मैं प्रायः राहुल जी की एक पुस्तक 'दर्शन-दिग्दर्शन' के पन्ने उलटा करता हूं और मैं नमित होता हूं उस महापंडित की समझदारी पर, कारण पांडित्य इसमें नहीं है कि उसे हम किस प्रकार बोझिल और क्लिष्ट बनाकर दूसरों के सामने प्रस्तुत करें, वरन् सही पांडित्य सहज और व्यावहारिक होने में है जिससे अपनी बात दूसरों तक सहजता के साथ पहुंचा सकते हैं। इसका उदाहरण है 'दर्शन-दिग्दर्शन'।

राहुल जी ने लगभग एक सौ पचास पुस्तकें लिखीं, उनमें चौंसठ पुस्तकें मेरे पास धरोहर स्वरूप सुरक्षित हैं। जब कभी मैं उनके बीच से गुजरता हूं तब मुझे यही लगता है उस व्यक्ति में ज्ञान की प्यास थी। ज्ञान को विज्ञान से, दर्शन को अर्थनीति से, भूगोल को इतिहास से, धर्म को चिंतन मे तथा राजनीति को वस्तुवादी चेतना से मिलाकर उन्होंने

'सार-सार को गही रहे, थोथा देई उड़ाय' की उक्ति चरितार्थ की।

मेरा मानना है कि राहुल अपने समय के एक ऐसे ज्वालामुखी थे जिनके अंदर सच्चाई को दावानल की तरह से उद्‌घाटित करने की क्षमता थी। उनकी बड़ी पुस्तकों का हवाला नहीं दे रहा हूं, उनकी केवल तीन छोटी पुस्तिकाओं की चर्चा यहां करना चाहता हूं—'तुम्हारी क्षय', 'आज की समस्याएं' और 'साम्यवाद की क्यों?' जरा देखिए उन पुस्तकों को—'तुम्हारी क्षय' की विषय सूची है—तुम्हारे समाज की क्षय, तुम्हारे धर्म की क्षय, तुम्हारे भगवान की क्षय, तुम्हारे सदाचार की क्षय, तुम्हारे न्याय की क्षय, तुम्हारे इतिहासाभिमान और संस्कृति की क्षय, तुम्हारी जात-पात की क्षय तथा तुम्हारी जोंकों की क्षय।

अब एक-दो पृष्ठ इस पुस्तक का देखिए—"हमारे देश के बड़े आदमी हैं। धर्म पर वह अपनी बड़ी भारी अनुरक्ति दिखलाते हैं। भगवान का नाम लेते-लेते गद्‌गद् होकर नाचने लगते हैं और ऐसे प्रदर्शन में काफी रुपया खर्च करते रहते हैं। उनकी हालत यह है कि जिस वक्त बड़े चेतनावाले पद पर थे, तब कभी रिश्वत बिना लिए नहीं छोड़ते थे, और स्त्रियों के संबंध में तो मानो सभी नियमों को तोड़ देने के लिए भगवान की ओर से उन्हें आज्ञा मिली थी।

एक प्रातः स्मरणीय राजर्षि को मरे अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं। उनकी भगवद्‌भक्ति अपूर्व थी। सवेरे ईश्वर-भक्ति पर एक पद बनाए बिना वह चारपाई से उठते न थे। और पूजा-पाठ में उनके घंटो बीत जाते थे लेकिन, दूसरी ओर हाल यह था कि अपने नगर और राज्य में जहां किसी सुंदरी का पता लगा, कि जैसे हो उसे मंगवाकर छोड़ते थे।

एक बड़े भारी हिंदू धर्म के नेता और विष्णु के साक्षात अवतार महात्मा की बात है। उन्होंने हिंदू-धर्म का प्रचार और रक्षा के लिए बहुत विशाल आयोजन किया। उसमें भारत के बड़े-बड़े राजा सेठ-साहूकार शामिल थे। धार्मिक जगत् में जितनी उनकी धाक रही उतनी कम ही की होगी। लेकिन उनकी भीतरी लीला को देखिए तो मालूम होगा कि रासलीला करने के लिए साक्षात कन्हैया का अवतार लेकर चले आए हैं। सुंदरी विधवाओं पर खास तौर पर अनुराग रहता है।

एक और महाराज रहे हैं, जिनकी शास्त्रीय विद्वता, धर्म-परायणता, दान और सदाचार की धाक सारे भारत पर रही है। लेकिन भीतर से उपासना, कुमारी-पूजा आदि धार्मिक अनुष्ठानों के नाम पर वह अपनी सभी वासनाओं की पूर्ति के लिए स्वतंत्र थे और ऐसे धार्मिक पुरुष से परिवार वाले लोग बहुत बचकर रहना चाहते थे।"

(तुम्हारे सदाचार की क्षय)

आज की समस्याएं' में चार लेख हैं जिनमें तीन-1940-44 के बीच 'हंस' में प्रकाशित हुए थे—इसकी सूची देखिए-पाकिस्तान की समस्या, मातृभाषाओं की समस्या, प्रगतिशीलता का प्रश्न, आज का साहित्यकार।

इन विचारों के बीच से गुजरिए, ऐसा लगेगा मानो राहुल कल के नहीं आज के हैं और उन्होंने जो कुछ लिखा है वह केवल अतीत और वर्तमान का अभिलेख ही नहीं वरन्

भविष्य का बोध भी है।

तीसरी पुस्तक 'साम्यवाद ही क्यों?' इसके समर्पण के शब्द देखें—"जिसने अपने विशाल राज्य में तीन बार धन का समवितरण कर साम्यवाद का क्रियात्मक प्रयोग किया, और इसी कारण जिसे माता ने विष दिया, उसी के नगर में लिखा यह ग्रंथ उसी साम्यवाद के पुराने शहीद मुनि-चन्-पो (845-46 ई.) की स्मृति को समर्पित।" अब आइए इस पुस्तक की विषय सूची पर—पूंजीवाद की उत्पत्ति, साम्यवाद क्यों पैदा हुआ, क्या पीछे लौटा जा सकता है, हमारी भयंकर दरिद्रता की दवा साम्यवाद, हमारे सामाजिक रोग और साम्यवाद, साम्यवाद और अच्छी संतान, साम्यवाद तथा धर्म और ईश्वर, साम्यवाद और स्त्रियों की परतंत्रता, साम्यवाद और मुसेलिनी और हिटलर के ढंग, साम्यवाद और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, साम्यवाद में यंत्रों से प्राप्त अवकाश का उपयोग, साम्यवाद का भविष्य और उसके शत्रु-मित्र।

साम्यवाद और सोवियत संघ दोनों अथवा रूस आज चर्चा के अद्यतन विषय हैं। ऐसे समय में राहुल का यह चिंतन आज भी शत प्रतिशत सामयिक है।

राहुल जी को जानने वालों की तथा उनके साथ रहे तथा जिए, काम किए, सैकड़ों लोग आज भी हमारे बीच हैं। उनमें कई लोगों से मैं मिला हूं तथा प्रयास किया है कि इनके माध्यम से राहुल जी को समझूं। लगभग हर जगह मुझे निराशा हुई है क्योंकि उनमें से अधिकांश लोगों ने उन्हें नहीं समझा। 1940-42 में राहुल जी हजारीबाग जेल में कैद थे। उनके साथ रहे एक स्वतंत्रता सेनानी से बातें हुईं तो मैंने जानना चाहा कि राहुल जी की दिनचर्या वहां क्या रहती थी, तो अन्यमनस्क से बोले-यही कि वे दिन-रात कुछ लिखते-पढ़ते रहते थे। ऐसा लगा मानो वे यों ही अपना समय बर्बाद करते रहे, जब कि इतिहास साक्षी है कि राहुल जी ने अपने विपुल साहित्य का निर्माण—बक्सर, हजारीबाग, देवली आदि कारावासों में ही किया।

किसी को आद्योपांत समझने के लिए मुख्य रूप से दो ही तरीके हैं—दूसरों के माध्यम उसे जाना, देखा, समझा जाए और दूसरी पद्धति यह है कि उसके ही माध्यम से उसे पहचाना जाए। राहुल जी पहले की अपेक्षा दूसरे खाते में अधिक आते हैं। उनको समझने तथा जानने के लिए उनके अंदर प्रवेश करना आवश्यक है। 'दर्शन-दिग्दर्शन' की भूमिका में एक पंक्ति आई है—"अमरता? बहुत भारी भ्रम के सिवा और कुछ नहीं है।" एक बात लिखते हुए शायद वह उसे भूल गए थे कि भौतिक रूप से व्यक्ति मर जाता है लेकिन उसकी कृतियां उसे सदा के लिए अमर बना देती हैं। उनकी कोई भी कृति एक दूसरे से मेल नहीं खाती—कहां 'बौद्ध दर्शन?' तो कहां 'चीन में कम्युनिस्ट।' खूब लिखा उन्होंने। जो देखा, वह लिखा। जो भोगा, वह लिखा। जो अनुभव किया, वह लिखा। जीवन उनका दुर्गम था, लेखनी उनकी सहज थी। सोचिए जरा आज के साठ-सत्तर साल पहले एक भूला-भटका यात्री सत्रह खच्चरों पर एक से अनेक पालि, संस्कृत, अर्द्धमागधी में लिखी पांडुलिपियां और पोथियां लिए तिब्बत से चलकर कंदराओं, पर्वतों, घाटियों को लांघता हुआ, मौसम की परवाह किए बिना, कई दिनों तक बिना खाए, बिना नहाए अपने

गंतव्य स्थान की ओर चला आ रहा है। पटना म्युजियम में राहुल कक्ष और उसमें संगृहीत लगभग डेढ़ हजार पोथी-पत्री राहुल जी के जीवन की ऐसी धरोहर है जिसे देखकर हर व्यक्ति दांतों तले उंगली दबा लेता है।

1937 में वह मेरे गांव और मेरे घर आए थे। एक दिन के उस विश्राम में उन्होंने मेरे यहां अवस्थित विशाल सूर्य मंदिर पर भी अपनी लेखनी चलाई थी। लोग-बाग अभी तक उनकी उस उपस्थिति को भूले नहीं हैं। इसी क्रम में यहां यह भी कह दूं कि राहुल जी की हस्तलिपि गुंथी हुई सी लपेटदार होती थी, अतः उन्हें स्पष्ट लिखावट हेतु किसी व्यक्ति की जरूरत थी। उन्होंने इसके लिए मेरे पिताजी को पकड़ा। जब वे पटना में होते थे तो जब-तब मेरे पिता जी को बोलकर लिखवाते थे या फिर अपनी पांडुलिपियां स्पष्ट रूप से उतारने के लिए दे दिया करते थे।

जिज्ञासा और जिज्ञासु दोनों एक वस्तु नहीं है। उनमें जिज्ञासा किसी जिज्ञासु की नहीं, बल्कि पिपासु की थी। उनका संपूर्ण जीवन भटकनों के साए में कैद किसी शापित यक्ष की कहानी है। अंतर है तो यही कि यक्ष को इंद्र ने शाप दिया था और राहुल जी ने अपने आपको शापित किया था। उनका शापित जीवन हमारे लिए वरदान सिद्ध हुआ। न वे इतना भटकते और न हम इतना पाते।

विचित्र जिंदगी थी उनकी, जिसमें विरासत नाम की कोई वस्तु नहीं थी। स्वयं उन्होंने जो कुछ पाया, उसे लुटाया।

रह-रहकर उन्हें एक ही चिंता सताती थी कि हिंदी का भंडार विज्ञान, शोध, दर्शन और इतिहास से परिपूरित हो। हिंदी उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकती, जिसमें उन्होंने 'विश्व की रूपरेखा' से लेकर 'मध्य एशिया का इतिहास' तथा 'इस्लाम धर्म की रूपरेखा' जैसी पुस्तकें लिखीं। वे सही मानो में विश्व-कोष थे, एक चलते-फिरते इन साइक्लोपीडिया। उनकी पकड़ विचित्र थी, आयाम कई थे और अनगिनत सपनों को वे साकार करना चाहते थे। वे 1953 में पांचवीं और अंतिम बार नेपाल आए। यहां से लौटकर उन्होंने 'नेपाली महाकवि देवकोटा' शीर्षक से एक लेख लिखा और उसमें अपनी मान्यता दी—"हिंदी कविता को 16वीं सदी से 20वीं सदी के मध्य तक जिन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा, नेपाली कविता को चार शताब्दियों की मंजिल एक शताब्दी में पूरी करनी पड़ी। परंतु इस जल्दी के कारण उसे अपरिपक्व नहीं समझना चाहिए। इसका एक सबूत महाकवि देवकोटा हैं, जिनमें हम अपने हिंदी के पंत, प्रसाद, निराला को ही पूर्ण रूप से नहीं पाते, बल्कि उनमें एक ओर यदि हम 'प्रियप्रवास' के कवि 'हरिऔध' को विकसित रूप में देखते हैं, तो दूसरी ओर एक दूसरे भी महाकवि को पाते हैं, जो कि अभी हिंदी में पैदा नहीं हुआ। देवकोटा जनता की सरल और सुललित भाषा में 'मुना मदन', 'कुंजिली' के महान गायक हैं।"

महाकवि की 'मुना मदन' की पंक्तियों ने उन्हें गहन रूप में प्रभावित किया था—

*हे मेरा भाई ती तिम्री मुना मरेकी हनैन ती,*
*ज्योति को स्वरूप लिएर गइन् बगेंचा बसंती*

*स्वर्ग का गाउंछन उनको मधुर जयंती।*
*पदति ढाक्यो, पर्दा ले छैक्यो, है दिदी! मलाई!*
*मरुनैछैन! गएर भोति मेट्टुंला तिंलाई!*
*हे देवपर्दा चांडे ने उठा! धन्य छ तंलाई!*

गांधी ने उन्हें झकझोरा था और बुद्ध ने हर तरह से उन्हें जकड़ा था। बुद्ध को वे पूर्णतया यथार्थवादी मानते थे-निष्क्रिय स्वप्नद्रष्टा नहीं। हालांकि नियति भी विचित्र है। जिस तरह उन्होंने संन्यास लिया था उसी प्रकार गांधी से भी नाता तोड़ा, चिवर भी उतार फेंके और हिंदी का जब प्रश्न उठा तो साम्यवादी दल को भी उन्होंने प्रणाम कहा। कहने के लिए वे दुराग्रही थे, लेकिन सच्चे अर्थों में सत्याग्रही थे।

जीवन भी क्या है? जिस आदमी ने अभ्यासपूर्वक अपनी विपुल स्मरण शक्ति के बल पर पच्चीस देशी-विदेशी भाषाओं का अध्ययन किया और उनमें असाधारण काम किया, जीवन के अंतिम दिनों में वही व्यक्ति अपनी स्मरण शक्ति खो बैठा। असहाय और निरुपाय जिंदगी, जिसमें निर्निमेष आंखें ही एकमात्र जीवन की निशानी होती है। 1959-60 से 1963 तक वे वैसे ही मूकद्रष्टा बने रहे। श्रीलंका से भारत, भारत से रूस और फिर वहां से वापस दार्जिलिंग जहां वे 1963 में हमारे लिए अतीत हो गए मानो—लो अब तुम याद रखो, मैं अब चला। आज वही अतीत हमारे लिए वर्तमान है और वह वर्तमान रह-रहकर हमेशा आश्वस्ति दे रहा है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा राहुल और भी प्रासंगिक होते जायेंगे, कालातीत। भले अपने बारे में वे यह क्यों न कहे—'अमरता? बहुत भारी भ्रम के सिवा और कुछ नहीं है।'

लेकिन सच्चाई यह है कि वे अमर हैं। उनकी मृत्यु के तीस वर्षों बाद आज हम उन्हें जिस श्रद्धा के साथ स्मरण कर रहे हैं, आने वाली पीढ़ियाँ इससे भी अधिक श्रद्धा और विश्वास के साथ उन्हें याद करेंगी, क्योंकि अपना जीवन मात्र महापंडित की तरह नहीं, किसी गाथा के समान जिया था। हमारे लिए उनका जीवन एक महागाथा के ही समान है। □

---

शंकर दयाल सिंह : सुपरिचित लेखक, पत्रकार और हिंदी सेवी। विभिन्न विधाओं पर बीस पुस्तकों के अतिरिक्त देश की महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। हिंदी के प्रचार-प्रसार में संलग्न। सांसद, राज्यसभा।
संपर्क : 15 गुरुद्वारा रकाबगंज रोड, नयी दिल्ली

## सोमदत्त बखोरी की याद

# मारीशस में हिंदी के स्तंभ

## यशपाल जैन

12 जून प्रातः सात बजे, आज से दो वर्ष पूर्व का स्मरण। फोन की घंटी बजती है। चोंगा उठाता हूं तो उधर से आवाज आती है, "मैं मारीशस से राधाकृष्ण बोल रहा हूं। कल लंदन से यहां आते हुए विमान में सोमदत्त बखोरी का देहांत हो गया।"

इस अप्रत्याशित समाचार को सुनकर स्तब्ध रह जाता हूं। सारा बदन सुन्न हो जाता है। मारीशस की राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला, समाज सेवा आदि का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं था, जिसमें बखोरी जी का महत्वपूर्ण योगदान न रहा हो। अंग्रेजी और हिंदी के वह विख्यात लखक और मौलिक चिंतक थ। सबसे बड़ी बात यह है कि वह मेरे आत्मीय जन थे। याद आती है उनसे पहली भेंट।

सन् 1965 में अफ्रीकी देशों की लंबी यात्रा करके मारीशस पहुंचा था। वहां के हवाई अड्डे पर हिंदी के लेखकों और प्रेमियों की भारी भीड़ थी। मैं पहला हिंदी लेखक था, जिसने वहां की धरती पर पैर रखा था। हिंदी जगत में बड़ी जिज्ञासा और उत्सुकता थी। हवाई अड्डे की खानापूरी करके शहर आया तो सबसे पहले हिंदी प्रचारिणी सभा के स्तंभ सूर्य प्रसाद मंगर भगत ने माल्यार्पण द्वारा मेरा स्वागत किया। प्रवासी भारतीयों के पक्षधर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे भगत जी का पता दिया था। भारत से रवाना होने से पहले मैंने भगत जी से पत्र-व्यवहार किया था। इस प्रकार उनसे मेरा परोक्ष परिचय था। भगत जी ने मुझे सभा के अध्यक्ष और मारीशस कालेज के प्राचार्य जयनारायण राय, हिंदी के लेखक और शिक्षक राजमन राधाकृष्ण तथा अन्य अनेक व्यक्तियों से मिलवाया।

उन सब विशिष्ट व्यक्तियों के बीच एक महानुभाव की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वह सबसे निराले थे। ऊंचा कद, गौर वर्ण, उन्नत ललाट, चेहरे पर लालिमा युक्त दीप्ति और होठों पर मधुर मुस्कान। भगत जी ने कहा, यह हैं बैरिस्टर सोमदत्त बखोरी—नगर निगम के अधिकारी, हिंदी के लेखक और कवि, हिंदी प्रचारिणी सभा के प्रमुख सदस्य।

उनके चेहरे पर कुछ ऐसी मोहिनी थी कि मैं एक क्षण उनकी ओर देखता रहा। फिर हाथ जोड़कर उनका अभिवादन करूं कि बड़ी ललक से उन्होंने आगे बढ़कर मुझे सीने से लगा लिया। उस क्षण ने मुझे सदा के लिए जीत लिया। बाद में तीन बार फिर मारीशस गया तो उसके पीछे उन्हीं की प्रेरणा मुख्य थी। मैं ही नहीं, मेरे संपूर्ण परिवार के साथ वह और उनका परिवार अटूट सूत्र में बंध गया।

मारीशस से मुझे आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड होकर फीजी जाना था। मेरे पास कुल चार-पांच दिन वहां के लिए थे, लेकिन हवाई जहाज का टिकट पक्का न होने के कारण मुझे लगभग बीस दिन वहां रुकना पड़ा। इसके पीछे संभवतः कोई ईश्वरीय संकेत था। उस अवधि में सोमदत्त बखोरी ने मुझे न केवल उस छोटे से द्वीप में चारों ओर फैले अभूतपूर्व प्राकृतिक सौंदर्य के दर्शन कराये, अपितु हिंदी का कार्य करने वाली प्रत्येक संस्था और केंद्र को भी दिखाया। आर्य समाज के विशिष्ट नेताओं और हिंदी के विद्वानों से मिलाया। हिंदी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में एक विराट सभा का आयोजन कराया, मारीशस कालेज में ले गए, त्रिवेणी संस्था के आदिम जातीय समाज में मेरा भाषण कराया। कहने का तात्पर्य यह कि मुझे उन्होंने मारीशस के साथ अत्यंत घनिष्ठ रूप में संपृक्त कर दिया। भारत लौटने पर मेरा मन वहां की हिंदी सेवा से इतना अभिभूत था कि मैंने सस्ता साहित्य मंडल की पुस्तकों के सवा-सौ सेट वहां भेंट-स्वरूप भिजवाये।

मेरे उस प्रवास को चिर स्मरणीय बनाने में जिन चार-पांच व्यक्तियों ने कोई कसर नहीं उठा रखी, उनमें एक सोमदत्त बखोरी थे। वह मुझे तत्कालीन प्रधानमंत्री सर शिव सागर रामगुलाम के पास ले गए तो संस्कृत-हिंदी के पितामह पं. वासुदेव विष्णुदयाल से भी मिलाना न भूले।

उसके बाद वह लंदन होते हुए सपत्नीक 7 अक्तूबर 1967 को भारत आए और सारे देश में घूमकर हिंदी के लेखकों, हिंदी संस्थानों तथा प्रकाशकों से मिले। मारीशस लौटकर उन्होंने 'गंगा की पुकार' नामक पुस्तक लिखी, जिसका प्रकाशन भारत में हुआ। उस पुस्तक का आज भी महत्व है। उसमें जहां हिंदी के प्रति गहरी भावना व्यक्त की गई है, वहां उसके दायित्व का बोध भी कराया गया है।

हिंदी और अंग्रेजी में उन्होंने एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। हिंदी की पुस्तकें हैं : *हिंदी साहित्य की एक झांकी, मुझे कुछ कहना है, मारीशस में हिंदी, बीच में बहती धारा, गंगा की पुकार, हिंदी साहित्य का परिचय* आदि। हिंदी के संवर्द्धन के लिए कई संस्थाओं की स्थापना की, जिनमें हिंदी परिषद प्रमुख थी। कई पत्र निकाले। उनके पत्र 'अनुराग' ने तो धूम मचा दी। आकाशवाणी और दूरदर्शन से संबद्ध रहे। वस्तुतः मारीशस में उन्होंने हिंदी प्रचार और प्रसार के लिए जो किया, वह अभूतपूर्व है। विश्व हिंदी सम्मेलन का मारीशस-अधिवेशन उनकी लगन का परिणाम था।

हिंदी के प्रति उनका प्रेम इतना गहरा था कि वह नागपुर और नयी दिल्ली में हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों में सम्मिलित हुए बिना नहीं रह सके। भारत सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के जिन चुने हुए हिंदी विद्वानों को सम्मानित किया, उनमें एक सोमदत्त बखोरी भी थे।

हिंदी के वह बड़े सजग लेखक थे। एक-एक शब्द तौलकर लिखते थे। विश्व हिंदी सम्मेलनों में दिए गए उनके भाषण आज भी याद किए जाते हैं। उतने ही अच्छे कवि थे। उनकी कविताएं हृदय से निकली हैं और वे हृदय का स्पर्श करती हैं। वक्ता भी वह बड़े ओजस्वी थे। उनकी एक पुस्तक 'एक मारीशस वासी की हिंदी-यात्रा' सन् 1984 में

सस्ता साहित्य मंडल ने प्रकाशित की। इसमें उन्होंने अपनी हिंदी सेवा के विवरण के साथ मारीशस में हुए विकास की पूरी कहानी कह दी है। पुस्तक बड़े ही तटस्थ भाव से लिखी गई है। मारीशस और भारत में वह बड़ी लोकप्रिय हुई है।

सन् 1965 से आखिर तक हम लोगों का पत्र-व्यवहार निरंतर होता रहा। एक बार जब वह अपने अंतिम प्रवास पर लंदन जा रहे थे, उन्होंने बड़ा विस्तृत पत्र मुझे लिखा। उनके दर्जनों पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे उनकी अपनी लिखावट में हैं और सुंदर अक्षर और बड़ी प्यारी भाषा में लिखे हैं।

उनके और उनके परिवांर के सौजन्य का स्मरण करके दिल भर आता है। उनकी पत्नी चंद्राणी वहां के टूरिस्ट विभाग में उच्च पद पर हैं। वस्तुतः उनको स्टाकहोम में पर्यावरण के संरक्षण के लिए पुरस्कार मिला था, जिसे लेने वह वहां गई थीं। उनकी बेटी साधना अपने पति के साथ लंदन में हैं। बखोरी जी ने मुझे लिखा था कि वह चंद्राणी के साथ जा रहे हैं। यदि स्टाकहोम गए तो ठीक अन्यथा लंदन में बेटी साधना के साथ कुछ समय व्यतीत करके लौट आयेंगे। उनका सारा परिवार अत्यंत सुसंस्कृत है। उनके आथित्य-प्रेम की स्मृति मन को पुलकित कर देती है।

हिंदी के अनेक स्तंभ मारीशस में टूट गए। सूर्य प्रसाद मंगर भगत गए, जिन्होंने अपने पसीने से हिंदी प्रचारिणी सभा को सींचा था। जय नारायण जी राय का निधन हो गया। हिंदी और अंग्रेजी के वह बड़े सशक्त लेखक थे। उनकी पुस्तक 'मारीशस में हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी की अनमोल निधि है। और भी कुछ हिंदी के अनन्य सेवी उठ गए और अब एक और स्तंभ टूट गया।

भाई सोमदत्त बखोरी को खोकर बड़ी रिक्तता अनुभव हो रही है। उनकी पत्नी चंद्राणी का हंसमुख चेहरा, उनकी बेटी साधना और उनकी बहन की सरलता और उनके बेटे संजय की कर्मठता को याद करके आंखें गीली हो आती हैं। मेरे लिए सोमदत्त बखोरी के बिना मारीशस की कल्पना करना संभव नहीं है। □

## शताब्दी वर्ष पर

# आचार्य शिवपूजन सहाय की याद

कमला प्रसाद सिंह

आचार्य शिवपूजन सहाय—बिहार के साहित्यिक दीवट पर जलता एक चिराग—जिन्होंने अपने जीवन प्रदीप के आखिरी बूंद तक उजालों के लिए समर्पित किया, जिससे भारतीय क्षितिज पर बिहार की आभा प्रकाशित होती रहे। बिहार की मिट्टी को गौरवान्वित करने में भगवान बुद्ध, महावीर, चाणक्य, अशोक, डॉ. राजेंद्र प्रसाद आदि के नाम इतिहास में अमर हैं। किंतु शिवजी को इतिहास बनने की आकांक्षा नहीं थी—वे इतिहास लिखना जानते थे। बिहार के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गौरव के मूल्यांकन के लिए जितना काम उन्होंने किया, लिखा, प्रकाशित कराया—उतना 'न भूतो न भविष्यति।' जीवन भर अभावों में जीकर दुखों के विष पीकर, उन्होंने हिंदी को जितना कुछ दिया है, जितने साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया है, जितने अंधकार में डूबे ग्रंथों का उद्धार किया है वह प्रशंसा के बहुत ऊपर की चीज है। इसी कारण लोग उन्हें नीलकंठ शिवजी कहा करते हैं।

बात 1960 की है। उन्हें भारत सरकार ने पद्मभूषण से सम्मानित किया था। आकाशवाणी के कार्यक्रम के सिलसिले में मैं पटना गया, तो शिवजी के दर्शन के लिए हिंदी साहित्य सम्मेलन भवन पहुंच गया। पढ़ा, सुना बहुत था—देखा नहीं था। वहां देखता हूं—एक साधारण सी कुर्सी पर एक ठिगने कद के, लालबहादुर शास्त्री जैसे गठन के व्यक्ति बैठे कुछ लिखने में निमग्न हैं। मोटी खादी की धोती कुर्ता बंडी माथे पर टोपी, आंखों पर चश्मा पैर में चमरोधा चप्पल—यह व्यक्ति किसी कोण से पद्मभूषण (उस समय हमारे कच्चे दिमाग में इस उपाधि के लिए कुछ भड़कदार छवि थी) नहीं लग रहे थे। मगर देखते ही उनके प्रति आदर का भाव जागता था, जैसे अपने बूढ़े उपकारी बाप को देखकर बेटों के मन में उपजता है, जैसे तपस्यारत ऋषि को आश्रम में देखकर किसी गृहस्थ के मन में भाव उदय होता है। मैं कुछ देर वहां खड़ा रहा, वे लिखते रहे। फिर एक बार जो उन्होंने कलम रोकी तो मैं झट से चरण स्पर्श के लिए झुक गया। स्नेह से सर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने पूछा—'कहां से आये हो?' मैंने कहा—'फारबिसगंज से।'

'ओ, रेणु का फारबिसगंज?' मैंने कहा 'हां'। 'कुछ लिखते हो?'

मैंने कहा—'कालेज में काम करता हूं और कविताएं लिखता हूं।'

उन्होंने कहा—'मेरे पैरों पर झुकने की अपेक्षा मेरे हाथ की अंगुलियों को देखो। यह देखो कलम के घट्ठे, जैसे किसान की हथेली पर खुरपी की मूठ और हल के घट्ठे

रहते हैं। लिखो, जो जी में आये लिखो। सौ लिखोगे तो दस अच्छे होंगे।'

फिर वे लिखने में संलग्न हो गए। मैंने देखा कि 67-68 वर्ष के इस कर्मयोगी में अभी भी कितनी ऊर्जा है, कितनी कार्य क्षमता है, कितना काम के प्रति समर्पण है? मुझे लगा कि 1924 ई. में जो इनकी लेखनी उठी थी, उसकी स्याही अभी तक सूखी नहीं है। वह चल रही है—अनवरत, धारा प्रवाह।

आचार्य शिवपूजन सहाय का जन्म 1893 ई. में बक्सर जिला के उनबॉस गांव में एक साधारण कायस्थ परिवार में हुआ था। पिता श्री बागीश्वरी दयाल जी बक्शी का काम करते थे। मिड्ल स्कूल की परीक्षा पास करते ही 1908 ई. में उनकी शादी कर दी गई। उस समय इनकी आयु चौदह वर्ष की थी। उस पत्नी का देहांत अल्प समय में ही हो गया। फिर दूसरी और उसके मरने पर उन्होंने तीसरी बार शादी की। इसी तीसरी पत्नी से उनका एक साहित्य सेवी पुत्र हैं, जो पूनाई चक पटना में रहते हैं।

1913 ई. में जे.के. अकादेमी आरा से मैट्रिक करने के उपरांत वे एक स्कूल में अध्यापन करने लगे। किंतु साहित्य लेखन के प्रति उनकी अभिरुचि बचपन से ही थी। जब नवीं कक्षा के छात्र थे, उसी समय 1910 ई. में बनारस से प्रकाशित प्रसाद जी की 'इंदु' में उनकी रचना छपी थी। इसके बाद उतरोत्तर साहित्य के क्षेत्र में उनकी पैठ बढ़ती गई। 1921 में 'सुधा' में एवं निराला जी के 'मतवाला' में लिखने लगे थे। 1924 ई. में 'माधुरी' (लखनऊ) और पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' से इनका जुड़ाव हो गया था। तात्पर्य यह कि सन् 25 तक भारत की श्रेष्ठतम हिंदी पत्रिकाओं में उनको स्थान मिल गया था।

आचार्य शिवजी की प्रतिभा को पहचानकर उस समय के देश के सबसे बड़े हिंदी प्रकाशक पुस्तक भंडार लहेरियासराय, पटना के मालिक पं. रामलोचन शरण ने उनको 1926 में प्रकाशन संस्था देखने का भार सौंपा। वहां से उन्होंने देश की पहली बाल पत्रिका 'बालक' का हिंदी में प्रकाशन प्रारंभ किया। 1934 ई. तक दरभंगा में रहकर अनवरत काम करते रहे। मगर उसी वर्ष विनाशकारी भूकंप ने जो दरभंगा का विनाश किया तो शिवजी वहां से पटना आ गए। 1939 में राजेंद्र कालेज छपरा में हिंदी प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहीं छायावाद के श्रेष्ठ कवि पं. जर्नादन प्रसाद झा द्विज से उनका परिचय हुआ।

1942 ई. में बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के सत्रहवें अधिवेशन के वे अध्यक्ष हुए। 1947 में 'राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ' का संपादन किया, जो अत्यंत परिश्रम और सूझबूझ का काम था। 1950 में 'साहित्य' पत्रिका का संपादन शुरू किया। इसके बाद 'गंगा' 'हिमालय' आदि कई पत्रिकाओं के संपादन किए। उसी वर्ष 'राष्ट्रभाषा परिषद' की स्थापना हुई और शिवजी उसके कर्ता धर्ता होकर उसमें आ गए और उसके माध्यम से अनेक दुर्लभ ग्रंथों का प्रकाशन कराया।

जिस ग्रंथ के कारण उन्हें हम बिहार का रामचंद्र शुक्ल कहते हैं वह है—'हिंदी साहित्य और बिहार' जिस का संपादन उन्होंने 1959 में किया। 1960 ई. में उन्हें भारत

सरकार की ओर से पद्मभूषण की उपाधि मिली। और 1963 ई. में महाकाल ने इस कर्मयोगी को हमसे छीन लिया। बिहार की साहित्यिक धरती रो उठी।

बिहार विभूति आचार्य शिवपूजन सहाय की साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख एक लेख में असंभव है। चालीस वर्षों तक उनके अथक अविराम लेखन, संपादन और प्रकाशन कार्यों की सूची देने के लिए भी एक लघु पुस्तक की आवश्यकता है। फिर भी यथासाध्य उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूं। शिवजी के संपादन में 'शिवपूजन रचनावली' चार खंडों में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित एक अमूल्य साहित्यिक निधि है। यह ग्रंथ कितना महत्वपूर्ण है, इसकी बानगी ग्रंथ पर सम्मति लिखने वाली महान हस्तियों की सूची देखकर पता लगाया जा सकता है—सम्मतिकारों में सर्वश्री आचार्य नरेंद्र देव, संपूर्णानंद, माखनलाल चतुर्वेदी, सुनीति कुमार चटर्जी, वासुदेव शरण अग्रवाल, मैथिली शरण गुप्त, डॉ. अमरनाथ झा, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद प्रभृति शलाका पुरुष हैं।

'शिवपूजन रचनावली' के प्रथम खंड में शिवजी की तीन पुस्तकें संग्रहीत हैं—

1. बिहार का बिहार—इसमें बिहार का ऐतिहासिक, भौगोलिक, प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिचय है। इस पुस्तक को पढ़ने से हर बिहारी का हृदय गर्व से ऊंचा उठ जाता है। और बिहार के बाहर के पाठक, इसमें अदभुत बिहार संबंधी जानकारियां पाते हैं। इतनी संवेदना के साथ बिहार की मिट्टी से जुड़े कलमजीवी आज तक नहीं हुए हैं।
2. विभूति (कथा संग्रह)—इसमें शिवजी की कहानियों के संग्रह हैं। इसी में वह विख्यात कहानी 'मुंडमाल' भी है जिसकी शैली काव्यात्मक और विषय निरूपण ऐतिहासिक ओजस्वी और प्रेरणाप्रद है। हाड़ारानी का बलिदान, एक क्षत्राणी नववधू का ओजमय चरित्र अविस्मरणीय बन पड़ा है।

'शिवपूजन रचनावली' का दूसरा खंड अप्राप्य है। तीसरे खंड में शिवजी द्वारा तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में लिखे गए लगभग 127 लेख संग्रहीत हैं। उन लेखों के शीर्षकों की बानगी देखिए—*हिंदी साहित्य में होली, हिंदी साहित्य में हास्य व्यंग्य, हिंदी साहित्य में बसंत वर्णन, हिंदी और हिंदुस्तानी, बिहार की साहित्यिक प्रगति, बिहार के हिंदी पत्र, बिहार के दैनिक पत्र, हिंदी साहित्य और बिहार*। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर भी लेख हैं। जैसे—धैर्य, संतोष, प्रेम और सेवा, परोपकार, समय का सदुपयोग, गोबर की रामकहानी, तुलसी की राम भक्ति, संस्कृत में यूरोपियन पांडित्य ... इत्यादि विषयों पर 127 लेख संग्रहीत हैं।

'शिवपूजन रचनावली' ग्रंथ के चतुर्थ खंड में जीवनी और संस्मरण संबंधी 70 लेख हैं—जिनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, किशोरी लाल गोस्वामी, मुंशी प्रेमचंद, रवींद्रनाथ ठाकुर से लेकर मित्रों—परिचितों तक के संस्मरण हैं। कितना अपनापन है उनके संस्मरणों में।

इसके अतिरिक्त उनके द्वारा संपादित पत्र—'गंगा', 'साहित्य', 'हिमालय' आदि में उनके द्वारा लिखे गए विद्वतापूर्ण सामयिक विषयों पर संपादकीय लेख संग्रहीत हैं, जिनकी संख्या साठ के ऊपर है। इन लेखों में तत्कालीन राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और साहित्यिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण संतुलित और प्रेरणाप्रद विचार व्यक्त किए गए हैं।

शिवजी, साहित्य सेवी के अतिरिक्त एक 'अच्छे आदमी', भला मानस, सच्चे इंन्सान थे। हाली का एक शेर है—

*फरिश्तों से बेहतर है इंन्सान बनना,*
*मगर इसमें पड़ती है मिहनत जियादा।*

दरअसल एक सच्चा आदमी बनने में ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है और उसको जीवनभर निभाने में तो अपने को तपस्या की भट्ठी में सोना की तरह गलाना पड़ता है।

उनकी महानता की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने किसी को अपने से 'छोटा' नहीं समझा। सब को यथायोग्य सम्मान देते थे। यह काम 'नहीं होगा'—ऐसी उक्ति उनके पास नहीं थी। बहुत सारे नए कवि, कथाकार अपनी अनगढ़ रचनाएं उन्हें सौंप आते थे। शिवजी उन्हें सुधारकर व्याकरण की अशुद्धियां हटाकर शीर्षक बदलकर उसे छपवा देते थे। इस अर्थ में वे पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के आदर्श पर चलने वाले थे। कई बड़े कवियों एवं उनकी कृतियों को भी व्याकरण की दृष्टि से सुधारने का काम उन्होंने किया था। मगर कभी जुबान पर उनकी चर्चा तक नहीं ला पाये। सज्जनता, शालीनता और भद्रता की तो वे मूर्ति ही थे। एक उदाहरण प्रचलित है—

एक बार उन्हें किसी साहित्यिक समारोह में अध्यक्षता के लिए सुबह चार बजे ही गाड़ी पकड़नी पड़ी। तो सिर्फ एक धोती कुर्ता में थे जो सफर में गंदा हो गया था। आयोजकों ने उनके सामान के बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि गाड़ी पकड़ने के लिए उनको रात के तीन बजे ही स्टेशन जाना था। घर में बेटा बहू गहरी नींद में सोये थे। उन्होंने उन्हें उठाकर कष्ट देना उचित नहीं समझा और जो पहने थे, उसी के साथ यहां पहुंच गए हैं।

क्या भद्रता है, क्या सीधापन है, 'इस सादगी पर कौन न मर जाए ....'। जो अपने बेटे बहू की नींद को भी खलल नहीं देना चाहते, वे किसी और को क्यों तकलीफ देने लगे? क्या यह व्यक्ति किसी फरिश्ता से कम है?

आज से सौ वर्ष पूर्व इस साहित्यिक महात्मा का जन्म बिहार की धरती पर हुआ था, जिसकी साहित्यिक सेवाओं से आज हिंदी और हिंदुस्तान का कोना-कोना आलोकित है। उस महात्मा को हमारा शत-शत नमन। □

# आचार्य शिवपूजन सहाय : जीवन और सृजन

जन्म 9 अगस्त 1893 ई.। ग्राम उनवास, प्रखंड इटाढ़ी, जिला शाहाबाद (बिहार)। प्रारंभिक शिक्षा गांव की पाठशाला में। 1913 ई. में आरा के एक हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। आरा उन दिनों भी बिहार में साहित्य-संस्कृति का प्रमुख केंद्र था। स्कूल छोड़ते ही कुछ दिनों तक शिवपूजन सहाय ने बनारस की कचहरी में नकल नबीसी की। उसके बाद स्कूल में प्राध्यापक। साहित्य-क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आगमन। आरंभिक कहानियां व साहित्यिक लेख *शिक्षा, लक्ष्मी, मनोरंजन,* पाटलिपुत्र में प्रकाशित। 1921-22 के आस पास आरा से निकलनेवाली पत्रिका *मारवाड़ी सुधार* का संपादन। 1923 ई. में कलकत्ता के *मतवाला मंडल* के सदस्य और कुछ समय के लिए *आदर्श, उपन्यास, तरंग* और *समन्वय, मौजी, गोलमाल* जैसे पत्रों का संपादन। 1925 ई. में कुछ माह के लिए *माधुरी* के संपादकीय में। 1930 ई. में सुलतानगंज-भागलपुर से प्रकाशित होने वाली *गंगा* मासिक पत्रिका के संपादक मंडल के सदस्य। एक वर्ष बाद काशी में रहकर साहित्यिक पाक्षिक *जागरण* का संपादन। 1934 ई. में लहेरियासराय (दरभंगा) जाकर मासिक *बालक* का संपादन। बाद में बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित *साहित्य* त्रैमासिक के संपादक रहे।

*प्रमुख पुस्तकें : बिहार का बिहार, विभूति, देहाती दुनिया, ग्राम सुधार, अन्नपूर्णा के मंदिर में, दो घड़ी, मां के सपूत, अर्जुन, भीष्म, राजेंद्र अभिनंदन ग्रंथ, वे दिन : वे लोग, बिंब : प्रतिबिंब, मेरा जीवन, द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, जयंती स्मारक ग्रंथ, बिहार की महिलाएं, हिंदी साहित्य और बिहार।*

सहाय जी का रचना-संसार *शिवपूजन रचनावली* के रूप में चार खंडों में प्रकाशित हुआ है। निधन 21 जनवरी 1963 को पटना में।

## रचनाकारों से

1. आपकी रचना टंकित हो और उसकी पहली प्रति ही भिजवाएं। हस्तलिखित प्रति साफ-साफ होनी चाहिए।
2. अपनी रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें।
3. अनूदित रचना के साथ मूल लेखक की अनुमति का होना आवश्यक है।
4. रचनाकार रचना के साथ यह उल्लेख अवश्य करें कि यह उनकी मौलिक कृति है और अप्रकाशित व अप्रसारित है।
5. अयाचित रूप से पुस्तकों की समीक्षाएं न भिजवाएं।
6. स्वीकृत रचनाओं के संबंध में सूचना यथासमय भेज दी जाती है। इसलिए 'गगनाञ्चल' में रचना भेजने के बाद उसे अन्यत्र न भेजें।

# राष्ट्रीय एकीकरण और लोक साहित्य

डॉ. विद्याविंदु सिंह

राष्ट्रीय एकीकरण की बात किए बिना यदि कहीं एक राष्ट्र की सत्ता का बोध होता है तो या तो खेती और खेती के साधनों में या मांगलिक उपादानों में या फिर लोक साहित्य के अभिप्रायों के वर्ण्य विषय में, बनावट और लय विधान में। भले ही लोग कहें भोजपुरी लोक गीत, अवधी लोक गीत, तमिल लोक गीत, कश्मीरी लोक गीत, परंतु यदि व्याकरण का आवरण उतार दें तो भीतर सब कुछ एक है। जो भी क्षेत्रीय रंगत है, वह ऊपर है, भाव और आंतरिक गठन के स्तर पर सब एक हैं। दूर से सुनें भाषिक ध्वनियां न सुनें केवल धुन सुनें और देश के बाहर सुनें तो पहचान हो जाती है, मेरे देश का गीत है। या कि दूसरे क्षेत्र का गीत भी यदि उसके अर्थ का विश्लेषण करे तो लगेगा, अरे इस अर्थ का गीत तो मेरे क्षेत्र में गाया जाता है। यह एकता की पहचान बड़े ही सहज और अचेत ढंग से होती है और उसको अधिक होती है जो लोक में रंजित है लोक से दूर नहीं है।

राष्ट्र का नाम भी कभी-कभी ही आता है, अन्यथा एक व्यापक देश के रूप में देश की बात होती है। एक गीत है, जिसका भाव है—*क्या उस देश में कोयल नहीं बोलती, पपीहा पी-पी नहीं पुकारता, यदि कोयल बोलती, पपीहा पुकारता तो मेरे प्रवासी प्रिय को घर की याद कैसे नहीं आती, कैसे वे घर के लिए उत्कंठित न होते।* लोकगीतों में राष्ट्र की एकता की पहचान इसी प्रकार की सगुण पहचान है, कोरी शाब्दिक पहचान नहीं है। वहां कहने की जरूरत नहीं पड़ती कि राष्ट्र एक है, बल्कि वहीं भीतर अनुभव होता रहता है। जहां तक इस प्रकार के भाव हैं, वह सब एक हैं। दूसरे शब्दों में—भावनात्मक स्तर पर एकता जब राजनीतिक होती है तो नहीं टिकती, भारतीय एकता कभी राजनीतिक नहीं रही। इस एकता की अवधारणा में मानवीय संबंधों में निश्छल प्रेम की गहराई थी।

लोकगीतों में राजनीतिक राष्ट्रीय एकता की बात भले ही स्पष्ट रूप में मुखरित न हो, उसकी एक देश की अवधारणा में भौगोलिक स्थानों का महत्व तो है, पर अधिक महत्व का नहीं। महत्व अधिक है तो पवित्र तीर्थों का है। तीर्थों की अवधारणा चारों धाम के रूप में की गई थी। भारत इन चारों धामों में सिमट जाता था। सप्त नदियां उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारत के भू-भाग में प्रवाहित हैं, पर्वतों में पश्चिमी घाट, सह्यार्द, पूर्वी घाट, महेंद्र, मलय पर्वत, सतपुड़ा पर्वत, विंध्य की श्रृंखला राजस्थान से शुरू होकर मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश से होती हुई बिहार तक फैली और ये पर्वत पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा देश की एकता के प्रतीक हैं। तीर्थों की अवधारणा इसीलिए महर्षियों ने की

थी कि सभी एक जगह से दूसरी जगह तीर्थाटन हेतु भ्रमण करें। आचार्य और संत हर जगह घूमकर अपने आचरण का प्रसार करते थे और देश को एक सूत्र में पिरोते थे। लोक मानस ने उन्हें सदा सम्मान दिया।

दूसरा भावना के स्तर का उदाहरण है, समूची प्रकृति के साथ एक ओत-प्रोत भाव, दूसरों को दुःख न देने की भावना। एक लोक गीत का उदाहरण लें :

*अब मन राम नाम गुन गाई !*
*जंगल जाब पात ना तूरब, ना बिरिछा के सताई*
*पात-पात पर राम बसतु हैं वन्हहूं का सीस नवाई।*
*तीरथ जाब पांव ना धोइब ना मूरति नहवाई।*
*नदिया एक घाट बहुतेरे, काया के मलि-मलि धोवाई।।*

किसी पत्ते को भी तोड़कर न सताना, उनका नमन करना क्योंकि सबमें राम बसते हैं, व्यापक अनुभूति और तीर्थ में जाकर पैर न धोना, तीर्थों के प्रति सम्मान की पराकाष्ठा है। एक ही नदी के अनेकों घाट हैं, जिसमें काया के कलुष को मल-मलकर धोना है। यह भावना ही एकता के भाव को अक्षुण्ण रखती है।

दूसरों को दुःख न देने की भावना का एक अन्य उदाहरण लें, जिसके भाव हैं : बाबा नीम का पेड़ न काटना, वहाँ चिड़ियों का बसेरा है। बेटियों को दुख न देना वे चिड़ियों सी भोली हैं।

चिड़ियां और बेटियां एक सी हैं, इन्हें दुख न देने की सीख व्यापक मानवीय संवेदना की साक्षी है। लोक संस्कृति में गंगा, वृक्ष, तुलसी आदि मनुष्य के जीवन के साझीदार हैं सबके साथ ममता है तथा सबसे यह आशा है कि हमसे ममता करेंगे। यहां तक कि विषैले जीव जंतुओं का भी आह्वान किया जाता है शुभ संस्कारों के अवसरों पर। सृष्टि की एकता और जीवन की एकता के स्वरूप के इस प्रकार के उदाहरण लोक साहित्य में ही मिलते हैं।

ऊपर से हर एक जनपदीय संस्कृति के रीति रिवाज अनुष्ठान भिन्न-भिन्न लगते हैं, उनमें स्थानीय रंगों की अलग-अलग छटा होती है पर जब गहराई में जाएं तो भावना और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तर पर अद्भुत एकता दिखती है।

हर क्षेत्र में किसी भी शुभ कार्य से पूर्व देवी-देवताओं का आह्वान करके देवी-देवों के गीत गाये जाते हैं। देवी का संबंध सभी जगह किसी वृक्ष, पहाड़ी, टीला आदि से माना जाता है। निराकार रूप पर सर्वत्र बल दिया गया है, आकृति पर नहीं। भावना पर बल दिया गया है। पर सभी जगह लवंग से, फूलों से, हल्दी की धार से उनकी पूजा की जाती है। देवी का आश्वासन देता हुआ रूप और भयावह रूप दोनों ही पूजा जाता है, जिसके आगे सभी बच्चे हैं। किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। यह भी मात्र संयोग नहीं कि देश के हर भाग में प्रायः देवी की सेवा में नियुक्त पुजारी ऐसे वर्ग के होते हैं, जो पिछड़े हुए वर्ग के हैं। देवी की आराधना के माध्यम से लोक मानस उन्हें सम्मान देता आया है। इसीलिए

लोकगीतों में यह प्रार्थना बार-बार दुहराई जाती है कि जो आशीर्वाद तुमने मालिन, भाटिन को दिया, जैसे उनको शीतल किया, वैसे ही सभी को करना। जैसे प्रकृति को तुमने फल से पूरित किया, वैसे ही मनुष्य को भी फल देना—इस कलयुग में तीन 'अमर' हैं, पानी, पवन और गंगा धूलि।

पूरे देश के लोक साहित्य में सद्भाव के प्रति मंगलमय अप्रतिहत विश्वास है, मंगल की अवधारणा भरे पूरेपन में है। घर भरा हो धान से, चिड़ियां चहक रही हों, ऐसी कामना गीतों में बार-बार की गई है। विवाह संस्कार के अवसर पर भोर जगाया जाता है जिसमें कर्म की प्रधानता और सुख-समृद्धि की कामना की जाती है—

*ऐ भोर भये भिनुसरवा, धरमवां के जुनियां*
*चिरैया बन बोलइ मिरिग बन चूंगइ,*
*ऐ हर लैके चले हरवहवा त बहुअरि जांते।।*
*अरे जाई जगावा डिउहार बाबा जासु दुहाई*
*ऐ मचियहिं बइठी भवानी मइया दहिया बिलौरें*
*ए दहिया त आवै कमोरियन,' दुधवा के नारी बहै।।*

भोर हो गई, धर्म की बेला है। चिड़ियां वन में बोलने लगीं, पशु तृण चुगने लगे। हल लेकर किसान खेतों की ओर चल पड़े, घर की बहुएं चक्की पर बैठ गईं। जाकर सभी कुल देवताओं को जगा दो। माता भवानी मचिया पर बैठकर दही मथने लगीं। कमोरे (मिट्टी के बड़े कलश) भरकर दही आ रही है, दूध की नालियां बह रही हैं।

जिस भरे पूरेपन की कामना की गयी है वह केवल भौतिक रूप से ही नहीं मन से भी भरे रहने की कामना है। जिस घर में स्वयं अन्नपूर्णा हो, वहां तो समृद्धि होगी ही।

लोक साहित्य में अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करके सत्य की विजय होती है। केवल मंगल का विश्वास ही नहीं है, पूर्ण संघर्ष करके मंगल या अभ्युदय का अवसर आता दिखाया गया है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर पूरे देश में विभिन्न संस्कारों के अनुष्ठान गीत एक से हैं। सर्वत्र मांगलिक चिह्न जैसे—कलश, हल्दी, आम्र पल्लव, पान सुपारी आदि एक से हैं, पूजन सामग्री जल, दूध, दधि, पुष्प, दूब, अक्षत, रोली, नारियल, हवन आदि एक से हैं। प्रादेशिकता और जातीयता से ऊपर उठकर सभी लोकगीतों में एक-सी व्यंजना है, एक से बिंब हैं। लोक गीतों में पुरइन पात सा फैलने और पान सा फेरा जाने का अभिप्राय सर्वत्र बार-बार व्यक्त हुआ है। पुरइन के पत्तों का फैलना समाज का फैलना है। पान के पत्ते का फेरा जाना ऐसे स्नेह का संकेत है जो न अधिक ताप दे, न अधिक शीत।

परिवार को स्नेह सूत्र से जोड़े रहने वाली बात तो प्रायः प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों में व्यक्त हुई है। *पारिवारिक संबंधों की यह गूढ़ व्यंजना परिवार से गांव, गांव से जनपद, जनपद से प्रदेश और प्रदेश से देश तथा आगे चलकर पूरे विश्व को एक घेरे में, एक सूत्र*

*में आबद्ध करती है। जीवन की संपूर्णता को व्यक्त करने के लिए अनेक उपादानों, रिश्तों को एक जगह इकट्ठा करती है।* भावना के स्तर पर बड़े बूढ़ों के प्रति आदर, पूर्व पुरुषों के प्रति कृतज्ञता के भाव आदि गुणों का विकास करने का अवसर देती है। यह परंपरा जिससे राष्ट्रीय एकता को अप्रत्यक्ष रूप से सहारा मिलता है।

सभी जगह के लोक गीतों में प्रश्नोत्तरी शैली मिलती है। एक उदाहरण लें :-

*काहें बिनु सून अंगनवां ए बाबा, काहें बिनु सून लखरांव,*
*काहें बिनु सून दुअरवा ऐ बाबा, काहे बिन पोखरा तुहार,*
*धिया बिनु सून अंगनवां ऐ बेटी, कोइलरि बिनु लखरांव,*
*पूत बिन सून दुअरवा ए बेटी, हंसा बिनु पोखरा हमार।।*

यहां पुत्री-पुत्र, आम का पेड़, कोयल और हंस पक्षी सभी में एकात्म भाव को व्यक्त करते हुए सबके महत्व को उजागर किया गया है। पुत्री के बिना आंगन सूना, पुत्र के बिना द्वार। उसी प्रकार कोयल के बिना अमराई और हंस के बिना पोखर सूना है।

इसी शैली का एक और उदाहरण लें जिसमें परार्थ जीवन के लक्ष्य का स्वर गूंजा है—

पोखर, कुंआ खोदवाना, बाग लगाना, लोक मानस पुण्य का कार्य समझता है क्योंकि इससे राहगीरों, पशु-पक्षियों को सुख मिलेगा। स्त्री का जन्म तभी सार्थक माना है जब वह मां बने। पुत्र का जन्म तभी सार्थक है जब उससे दुनिया आनंदित हो। स्त्री अपना जन्म कब सार्थक मानती है ? जब वह लोक सेवक संतान को जन्म देती है। पुत्र का जन्म कब सार्थक है ? जब उससे पूरे लोक को आनंद मिले।

लोक मंगल की यह विराट भावना एकता की अवधारणा को पुष्ट करती है। पूरे देश की लोक कथाओं में एक समानता यह भी है कि उसमें अधिकतर नाम या जाति का उल्लेख नहीं मिलता। किसी नगर या स्थान का नाम नहीं मिलता। बस एक था राजा, एक थी रानी या एक आदमी था और एक स्त्री थी। इस प्रकार उनसे मानवीय संवेदना का स्वर ही अधिक उजागर हुआ है।

लोक साहित्य में एक देश की अवधारणा है, भारत देश क़ी और उसके लिए उत्सर्ग करने की भावना लोक गीतों में सर्वत्र व्यक्त हुई है। एक भोजपुरी गीत लें—

*बड़-बड़ भइलें जतनवां, उपइया उपचरवा नु हो*
*ललना जब रे किरपा भई राम कै, त गोदिया बालक खैलें हो।*
*पुतवा दे देबो भारत मइया के, मतवा के सेउवा म हो।*
*ललना पूत करिहैं देसवा के काम त जनम सुफल होइहैं हो।*
*मनवा म इहै अभिलाख, इहै एक साधि, इहै एक सधिया नु हो।*
*ललना पूत होइहैं देसवा के सेवक, राम से बिनती करौं हो।*

लोक मानस में राष्ट्र की परिकल्पना सूक्ष्म रूप में है, भौगोलिक इकाई के रूप में

नहीं। वह राजनैतिक विभाजनों से भी उपर है। जहां जन्म लिया उस मातृभूमि के लिए तो चिंता होती ही है, वहां पूरे विश्व की चिंता होती है। किसी की भी विवशता हो, मनुष्य पशु पक्षी या जीवन-जंतु उसके प्रति लोक मानस करुण हो उठता है। उसके यह करुणा देश के निवासियों को एक दिशा देती है, जिसमें देश की भौगोलिक एकता या परस्पर संबद्धता की बात अधिक महत्व रखती है। यह परस्पर संबद्धता देश की भौगोलिक संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृति के बीच होती है तथा प्रदेश और देशव्यापी संस्कृति के बीच होती है। लोक साहित्य की कलात्मक संपत्ति की व्यापकता से भारत की एक अखण्ड संस्कृति का विश्वास मिलता है। इस अखण्ड संस्कृति में न तो हिंदू मुस्लिम संस्कृति का और न ही अन्य जातियों, संस्कृतियों का भेद है। बुंदेली और ब्रज में जाहखीर की गाथा है तो अवधी भोजपुरी में हसन-हुसेन के बलिदान की मार्मिक कथा 'दाहा' गीतों में गायी गई है।

औसान देवी की पूजा दोनों संस्कृतियों में की जाती है। 'औसान' का अर्थ है संकट। संकटा देवी और औसान देवी दोनों एक ही है। गांव में दोनों की भाषा एक है। सारे मतभेद जो दिखते हैं ये बाहरी दबाव के कारण हैं। गांव में कहीं कोई संशय या अंतर्विरोध नहीं है। दोनों के गीत और कथा लगभग एक सी हैं।

किसी भी वस्तु को प्राणवान भावनात्मक प्रवाह के रूप में लोक साहित्य में देखा जा सकता है। वहां तर्क की अपेक्षा भाव अधिक प्रबल है। देश की व्यापक अवधारणा के साथ समाज की अवधारणा जुड़ी है। लोक दृष्टि में समाज केवल आदमियों का समूह नहीं है, आदमी और आदमी के बीच रिश्तों का निरा संघटन भी नहीं है। वह संपूर्ण चर-अचर, जड़-चेतन संसार के सदस्यों को एक दूसरे से जोड़ने का भाव है। लोक की भावात्मक एकता की जो सहज दृष्टि है उसका व्यापक प्रभाव ही आज के समाज और देश की बिखर जाने वाली संस्कृति के भय को दूर कर उसे एक करने में सहायक हो सकता है।

राष्ट्र को यदि जीवित सत्ता के रूप में देखना है तो इन भावात्मक बिंदुओं को उठाना चाहिए और भेदों को मनुष्य के स्वभाव की एकता की भिन्न रंगतों के रूप में देखना चाहिए।

इस निदर्शन से अपने आप यह बात रेखांकित होती है कि लोक गीतों की बड़ी ही जबर्दस्त भूमिका राष्ट्रीय एकता की भावभूमि तैयार करने में हो सकती है। शर्त इतनी है कि लोक गीत भारतीय लोक गीत के रूप में प्रस्तुत हों, केवल आंचलिक संपदा के रूप में नहीं। भारतीय लोकगीतों का अर्थ सहित ऐसा संकलन तैयार होना चाहिए और ऐसे कैसेट तैयार होने चाहिए, जिनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देश की प्रकृति और देश के मनुष्य का रागबोध और परस्पर कुटुंब भाव अभिव्यक्त हो और जिसमें एक दूसरे को आमंत्रित करने का हृदयस्पर्शी भाव हो। इसका समूह संचार साधनों द्वारा यदि उचित प्रसार हो और इन पर विशाल और व्यापक दृष्टि से व्याख्याएं प्रस्तुत की जाएं तो बहुत सी संकीर्णताएं शामिल होंगी और देश की भावना जीवन का अंग बनेगी। □

# भारतीय मानस और लोक संस्कृति

## डॉ. शालिग्राम शुक्ल नीर

यदि किसी देश को एक शरीर मान लिया जाए तो उस देश की संस्कृति उसकी आत्मा मानी जाएगी। जिस तरह हमारा संपूर्ण शरीर हमारी आत्मा के आलोक से प्रतिभासित होकर स्पंदित और गतिशील बना रहता है उसी प्रकार कोई देश अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रकाश से आलोकित होकर जीवंत और क्रियाशील बना रहता है। भारतवर्ष के परिप्रेक्ष्य में यह बात और भी सार्थक और सटीक प्रतीत होती है। हमारा देश विश्व के रंगमंच पर अपनी सांस्कृतिक विरासतों, अपनी प्राचीन मान्यताओं और धार्मिक विश्वासों के कारण ही पहचाना जाता रहा है। हमारे रीति-रिवाज, पर्व, संस्कार साहित्य और हमारी परंपराएं तथा दूसरी अनेक लोक कलाएं हमारी पहचान और परिचय के स्रोत बनती आयी हैं। जब भी कोई विदेशी यात्री इस भूमि पर आया तो यहां की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा और उसने यहां की सांस्कृतिक झलक की भूरि-भूरि प्रशंसा की। *ह्वेन सांग* और *फाह्यान* के उदाहरण हमारे सामने हैं। जब भी कोई इतिहासकार यहां का इतिहास लिखने बैठा तो जाने-अनजाने यहां की संस्कृति का चित्रण करना नहीं भूला। इस देश की मिट्टी की यही विशेषता है कि जो भी इसके संपर्क में आया यहां से कुछ सीखकर ही गया। विश्व विजय पर निकला सिकंदर यदि पराजित हुआ तो इसी देश में। वह युद्ध भले ही जीत गया किंतु व्यवहार में तो हार ही गया। वह यहां से सीखकर गया कि एक राजा को दूसरे राजा के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। उसने पोरस से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। उसे ऐसा करने के लिए पोरस की शक्ति और शौर्य ने नहीं वरन् उसके संस्कारों ने विवश किया। एक नहीं ऐसे बहुतेरे उदाहरण इतिहास के पन्नों पर देखने को मिल सकते हैं। यह देश आदि काल से ही संस्कृति का धनी रहा है। वह संस्कृति जो उसकी आत्मा, प्राण और जीवनी-शक्ति रही है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि वही संस्कृति आज विदेशी सभ्यता के बढ़ते प्रभावों से पददलित हो रही है। पश्चिम का जादू इस देश की संस्कृति पर इस कदर चढ़ता जा रहा है कि हम इसके खोखले आकर्षण की ओर खिंचते चले जा रहे हैं। हम पर नकल और शान-शौकत का नशा चढ़ता जा रहा है तथा हम डूबते जा रहे हैं झूठ और फरेब के एक अंधेरे गर्त में। हम उसी डाल को काट रहे हैं जिस पर हम बैठे हैं। हम अपना आधार नष्ट कर रहे हैं, अपना ही अस्तित्व मिटा रहे हैं। इसका अंत क्या होगा ? यह सोचने की बात है।

जब भी हम अपने देश की संस्कृति की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि अनायास ही उस संस्कृति की ओर चली जाती है जिसमें यहां का अधिकांश जनमानस सांस लेता दिखायी पड़ता है। वह संस्कृति जो उसकी माटी की संस्कृति रही है, गांवों की संस्कृति रही है क्योंकि

भारत गांवों का देश रहा है। इसी संस्कृति को हम लोक संस्कृति के नाम से जानते हैं।

लोक संस्कृति क्या है और भारतीय जनमानस को उसने कहां तक प्रभावित किया है जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो एक बात हमें दिखायी पड़ती है। वह यह कि लोक संस्कृति सामान्य जनमानस की संस्कृति है। भारत ही नहीं विश्व के किसी भी देश का सामान्य जनमानस अपनी लोक संस्कृति में ही जीता है। उसी में सांस लेता है, फलता-फूलता है और जीवन के अनेक व्यापारों का संचालन करता है। उससे उसे जीवन-शक्ति मिलती है, प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है तथा भविष्य की राहें निर्मित होती हैं। वह उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते उसी के स्वप्न देखता है, उसी के दर्शन करता है। तात्पर्य यह है कि उसकी लोक संस्कृति उसकी हर एक सांस में, उसकी हर धड़कन में तथा हर क्रिया में रस-बस गयी होती है। वह उससे अलग रह कर नहीं जी सकता है, उससे दूर रहकर कुछ भी नहीं सोच सकता। भारत तो आज भी गांवों का देश है, सामान्य जनमानस का देश है क्योंकि यहां की अस्सी प्रतिशत जनता गांवों में ही निवास करती है। विशिष्ट जन तो बड़े-बड़े नगरों और महानगरों में रहते हैं। उनकी संस्कृति तो आभिजात्यवर्ग की शिष्ट संस्कृति है जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित है। उस पर आधे से अधिक पश्चिमी रंग चढ़ चुका है। भारतीय संस्कृति और लोक संस्कृति की तो वहां झलक मात्र देखी जा सकती है। हमें तो उस संस्कृति के दर्शन करने हैं जो बहुजन की संस्कृति है, अधिकांश जन की संस्कृति है। वह है हमारी लोक संस्कृति।

लोक संस्कृति वास्तव में वह संस्कृति है जो अपनी प्रेरणा जन साधारण अथवा लोक से प्राप्त करती है। इसकी जन्म भूमि जनता है और इसके अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर देखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में *इसे हम सामान्य, स्वस्थ जन की संस्कृति कह सकते हैं जो अत्यंत सरल, सहज, छल-कपट रहित और प्रकृति के समीप होती है। लोक संस्कृति के अंग्रेजी पर्याय 'फोकलोर' शब्द के जन्मदाता विलियम टाम्स ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे सर्वसाधारण जनता का ज्ञान बतलाया है।* ठीक ऐसी ही परिभाषा अनेक विदेशी-देशी विद्वानों ने की है। *सोफिया बर्न* ने इसके क्षेत्र विस्तार के संबंध में लिखा है कि *इसके अंतर्गत पिछड़ी हुई जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों के अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियां, गीत तथा कहावतें आती हैं।* प्रकृति के चेतन तथा जड़जगत के संबंध में, भूतप्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के संबंधों के विषय में, जादू-टोना सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के संबंध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसकी सीमा में आते हैं। इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन में रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि के तत्व सम्मिलित हैं। धर्म गाथाएं, लोक कथा, कहानियां, किंवदंतियां और पहेलियां इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक संपन्नता के अंतर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह इसके क्षेत्र में है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि लोक संस्कृति के बीज अथर्ववेद में वर्तमान हैं क्योंकि वहां अंध-विश्वास,

टोना-टोटका, जादू और मंत्र के वर्णन आए हुए हैं। उपनिषद यद्यपि अभिजात संस्कृति के ग्रंथ हैं और फिर भी उनमें लोक संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। गृह्य सूत्र तो लोक संस्कृति के कोष ही माने जाते हैं। पालि जातकों में भी लोक संस्कृति के चित्रण हैं। संस्कृत के कवियों और नाटककारों ने भी लोक संस्कृति का मनोरम चित्रण किया है। स्पष्ट है कि लोक संस्कृति की धारा प्राचीन काल से ही प्रवाहित होती रही है जो आज भी देश की आत्मा गांवों में देखी जा सकती है।

लोक संस्कृति और भारतीय मानस का क्या संबंध है, वह इसके प्रति कैसा विचार रखता है इन प्रश्नों के समाधान के लिए आवश्यक है कि हम लोक संस्कृति और भारतीय मानस को विस्तार से जानें। यह जानें कि इन्हें किन वर्गों में बांटा जा सकता है और इनमें कौन सी बातें आती हैं। *सोफिया बर्न, प्रो. क्रेपी, एलेन डण्डी* आदि पाश्चात्य विद्वानों का आधार लेते हुए लोक साहित्य के मर्मज्ञ *डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय* ने लोक संस्कृति को पांच वर्गों में विभाजित किया है। किंतु इसका विवेचन निम्नलिखित चार वर्गों में भी सरलता से किया जा सकता है :-

(क) लोक विश्वास (ख) सामाजिक परंपराएं (ग) धार्मिक मान्यताएं (घ) कलाएं (लोक साहित्य तथा लोक कलाएं) इसी प्रकार भारतीय मानस के भी तीन विभाग किए जा सकते हैं : (च) पूर्ण रूप से पश्चिमी संस्कृति से आवेष्टित (छ) पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित (ज) शुद्ध रूप से लोक संस्कृति में जीवित (लोक मानस)।

भारतीय मानस के वर्गों पर विचार करते समय हमें मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए मानस के भेदों पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। मनोविश्लेषण-वादी मानस के दो भेद करते हैं—*चेतन और अवचेतन*। कुछों ने अर्द्ध चेतन मानस की भी सत्ता स्वीकार की है। *फ्रायड* के सिद्धांतों के अनुसार मनुष्य के जन्म के साथ इसके पूर्वजों के संस्कार प्राप्त होते हैं जिनसे उसकी प्रवृत्तियां निर्धारित होती हैं। ये ही हमारे निर्माण की मूलाधार हैं। इसका चेतन मानस से कोई संबंध नहीं होता। ये अवचेतन मानस से संबंध रखती हैं। इस अवचेतन मानस को भी दो वर्गों में बांटा जा सकता है—उपार्जित मानस और उत्तराधिकारेय मानस। उपार्जित अवचेतन मानस का संबंध मन की कुण्ठाओं और दमित वासनाओं से है। दूसरी ओर उत्तराधिकारेय मानस ही वास्तविक लोक मानस है जिसमें अपने पूर्वजों की आदिम प्रवृत्तियों, रीति-रिवाजों, विश्वासों, धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं तथा बहुतेरी क्रियाओं की झलक देखी जा सकती है। ये परंपरा से एक दूसरे में प्रवाहित और संचारित होती रहती हैं तथा उसके कार्यों में प्रतिभासित होती हैं। वैसे ये प्रवृत्तियां अवचेतन मानस के अंतर्गत मूल मानसिक प्रकृति के रूप में सभ्य मनुष्यों में भी वर्तमान रहती हैं किंतु पर्दे की पीछे। जब कि लोक मानस में ये आगे-आगे चलकर स्वयं को उजागर करती रहती हैं। यही कारण है कि शिष्ट साहित्य और शास्त्रीय कलाएं उपार्जित अवचेतन मानस की उपज हैं जब कि लोक साहित्य और लोक कलाएं लोक मानस की। लोक संस्कृति का सहज और स्वाभाविक संबंध इसी लोक मानस या लोक धारा से है। यही लोक मानस लोक साहित्य, लोक

कलाओं और दूसरे लोक संस्कृति के विविध आयामों का निर्धारक तत्व है। इसी से लोक संस्कृति जीवित है और यह लोक संस्कृति से।

आज के संदर्भ में जब हम भारतीय मानस की बात करते हैं तो इसमें वे बहुतायत सामान्य नागरिक आते हैं जिन पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का रंग चढ़ चुका है। महानगरों, नगरों, कस्बों और गांवों तक यह हवा फैल चुकी है। आज का लोक मानस भी अपना आधार खो रहा है फिर इससे प्रभावित और पूरी तरह अपना चुके जनमानस की बात ही क्या ? लोक संस्कृति के बारे में वर्तमान भारतीय मानस की चिंतन धारा को समझने के लिए सभी तत्वों पर दृष्टिपात आवश्यक होगा। सर्वप्रथम लोक विश्वासों को ही लिया जाए।

लोक विश्वास तथा परंपरा लोक संस्कृति के प्राण हैं। भारतीय मानस को जितना इस तत्व ने प्रभावित किया है उतना संभवतः किसी भी पक्ष ने नहीं। अंतरिक्ष में स्थित नक्षत्रों जैसे सूर्य, चंद्र, शनि, मंगल, ध्रुवतारा, पुच्छल तारे तथा उल्काओं के विषय में प्राचीन भारत में तरह-तरह की धारणाएं व्याप्त रही हैं। सूर्य के संबंध में ऐसा माना जाता रहा है कि सूर्य एक अत्यंत कल्याणकारी देवता है। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर उसकी पूजा करने से, अर्ध्य देने से संतानोत्पत्ति होती है तथा अनेक रोगों से छुटकारा मिलता है। *कार्तिक मास में उत्तर भारत के कई प्रदेशों में स्त्रियां छठ का व्रत रखती हैं और जल में भोर से ही खड़ी रहकर सूर्योदय पर उसे अर्ध्य देती हैं, पूजन करती हैं। बिहार का तो यह प्रमुख त्यौहार है।* रविवार को सूर्य का दिन मानकर आज भी बहुत से लोग व्रत रखते हैं। *उड़ीसा का कोणार्क सूर्य मंदिर देश प्रसिद्ध है। दक्षिणी प्रांतों में भी सूर्य की पूजा का विधान है। संस्कृत और दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य में सूर्य से संबंधित लोक विश्वासों के प्रसंग भरे पड़े हैं।* इसी प्रकार चंद्रमा के बारे में भी विश्वासों और कथाओं का प्रचलन है। चंद्र ग्रहण की व्यापकता किसी से छिपी नहीं है। वर्ष के कई महीने चंद्र-व्रतों और पूजा से संबंधित हैं। करवाचौथ, गणेश चतुर्थी, सोमवती अमावस्या, स्त्रियों के प्रचलित व्रत हैं। संस्कारों में भी चंद्र पूजन का विधान है। शनि के कुप्रभावों से बचने के लिए शनिवार को पीपल के वृक्ष के नीचे तेल का दीपक जलाना, काले वस्त्र या काले तिल से पूजन करना अथवा उपवास रखना पूरे देश में चलता है। लोग इस दिन लोहा नहीं खरीदते तथा शुभ कार्य भी नहीं करते। ऐसे ही मंगल के प्रभाव से बचने के लिए मंगल व्रत का विधान है। विवाह के समय वर-वधू को ध्रुवतारे का दर्शन कराना अटल प्रेम का द्योतक माना जाता है। पुच्छल तारे का देखना अशुभ और अनिष्टकारी माना जाता है। उल्काओं का टूटना दैवी आपदा या अतृप्त आत्माओं का भटकना माना जाता रहा है। इसी प्रकार बिजली, वर्षा, बादल, हवा तथा इंद्र धनुष के बारे में भी भारतीय मानस में विविध विश्वास पलते रहे हैं।

मनुष्य की निवास-स्थली पृथ्वी को माता मानने के अतिरिक्त उसकी तथा उसकी मिट्टी की पूजा का विधान है। संतोनोत्पत्ति के समय मां को भूमि पर लिटा देना या मृत्यु

के समय व्यक्ति को शैया से नीचे कर देना लोक मान्यताओं से जुड़ा है। पृथ्वी पर प्रवाहित नदियों, विशेषकर गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कर्मनासा आदि के प्रति जो हमारे मन में विश्वास है उसे बताने की आवश्यकता नहीं। गंगा का महत्व समझकर ही सरकार ने भी उसे प्रदूषण मुक्त करने का बीड़ा उठाया है। हमारे सागरों, पर्वतों, पठारों, सरोवरों और कुंओं को भी पूजने की प्रथा है। हिमालय को तो देवताओं का निवास ही मान लिया गया है। पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार की वनस्पतियां और पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़ों के प्रति भी अनेक आस्थाएं देखी जाती हैं। पीपल का संबंध शिव से, नीम का शीतला देवी तथा बट का संबंध प्रलय काल के विष्णु से जोड़ा जाता है। स्त्रियां सत्यवान, सावित्री की कथा से जोड़ कर बट की पूजा करती हुई बट सावित्री का व्रत रखती हैं। बांस, कुशल, मूंज का उपयोग जन्म, विवाह, जनेऊ तथा मृत्यु संस्कारों पर पूरे देश में किया जाता है। पीपल पर भूत-प्रेतों का, बंसवारि में चुड़ैलों का तथा श्मशान पर आत्माओं का वास मान जाता है। पूजन में पलाश, चंदन, नारियल, दूर्वादल, तुलसी पत्र तथा कदली आदि का प्रयोग सर्वत्र प्रचलित है। तुलसी का तो लोक संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी भांति कमल का लक्ष्मी-सरस्वती-ब्रह्मा आदि से, गुड़हल का दुर्गा काली आदि से तथा बेला का शीतला और कुमुद पुष्प का शिव से संबंध जोड़ा जाता है। हाथी तो गणपति का अवतार ही है। उल्लू, गिद्ध, कौआ अशुभ और अपवित्र जब कि नीलकण्ठ, खंजन, हंस और तोता-मैना अच्छे पक्षी माने जाते हैं। कीड़ों में नाग या मछली का पूजनीय स्थान तथा छिपकली, मक्खी आदि का निंदनीय स्थान है। घरेलू वस्तुओं और पारिवारिक क्रिया-कलापों के विषय में भी अनेक लोक विश्वास समाज में प्रचलित रहे हैं जिनसे आज का भारतीय मानस मुख मोड़ रहा है। वैवाहिक क्रियाओं में मूसल, लोढ़ा (बट्टा), लोटे के जल से वर का पूजन कई प्रांतों में देखा जाता है। सिंदूर का गिरना, चूड़ियों का टूटना, शीशे का फूटना तथा गोधूलि बेला में झाडू लगाना अशुभ माना जाता है। प्रातःकाल सज्जन व्यक्ति का प्रथम दर्शन, दायीं आंख का फड़कना तथा तीर्थों पर बाल बनवाना शुभत्व के प्रतीक हैं। मेंहदी, महावर और गोदना नारियों के लिए सौभाग्य सूचक रहे हैं। गृहस्थी के उपकरण जैसे सील, सूप, घड़ा, हरिस, जआठ, चावल, तिल तथा गुड़ दूध-दही चावल आदि सभी लोक विश्वासों से जोड़े जाते रहे हैं। किंतु आज इनका कोई सांस्कृतिक महत्व नहीं रह गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इस समूचे विश्वास के अनेक वैज्ञानिक आधार हैं, इनके व्यावहारिक लाभ हैं जिनका वर्णन यहां विषय को बढ़ाना होगा।

*आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास)* के प्रति लोक संस्कृति उतनी जागरूक नहीं रही क्योंकि यह अपेक्षाकृत कम संस्कृत लोगों की संस्कृति रही है। यह संस्कृति तो हमेशा ही अशिक्षा, अज्ञान, अन्याय और शोषण से संघर्ष करती रही है जिस पर केवल ईश्वर का भरोसा रहा है। इसने तो केवल एक गृहस्थाश्रम और उसकी तपस्या को ही जीवन का मंत्र समझा। उसी में जूझती रही और आज मिट जाने के कगार पर पहुंच गयी है। लोक संस्कृति में संयुक्त परिवार को हमेशा ही महत्व दिया गया। आज भी शहरों की

अपेक्षा गांवों में इसे आदर प्राप्त है किंतु पारिवारिक विघटन का प्रेत अब गांवों की ओर पग बढ़ाने लगा है। भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विशेष स्थान रहा है। अभिजात संस्कृति में इसका परिष्कृत और परिमार्जित स्वरूप देखा गया तो लोक संस्कृति में सहज और अनगढ़ रूप। संस्कारों से संबंधित वैदिक क्रियाएं और कर्मकाण्ड शिष्ट संस्कृति तक सीमित हो गये। लोक संस्कृति ने इनका अलग स्वरूप गढ़ लिया। पाश्चात्य संस्कृति तक सीमित हो आने से शिष्ट संस्कृति में संस्कारों का स्वरूप या तो विकृत हो गया या नष्ट ही हो गया जबकि लोक संस्कृति में यह किसी न किसी रूप में जीवित रहा। इन संस्कारों में जन्म, विवाह और मृत्यु शाश्वत और सनातन हैं। शेष कहीं देखे जाते हैं तो कहीं नहीं। उपर्युक्त संस्कार अब अभिजात संस्कृति में संस्कार न रह कर जैविकीय प्रक्रिया बन गये हैं, प्राकृतिक अपरिहार्यता बन गये हैं। वर्तमान भारतीय मानस का इनके बारे में ऐसा सोचना उसके चिंतन का पलायन नहीं तो और क्या है ? आज जन्म जैसे पवित्र कार्य को पति-पत्नी के सहवास का परिणाम माना जा रहा है न कि पूर्व जन्म के पुण्य का फल अथवा ईश्वरीय इच्छा। आज का पुत्र तो मानता ही नहीं कि उसके पिता ने उसे पैदा किया। वह तो स्वयं को एक पुरुष और नारी के शारीरिक संबंधों का नतीजा मानने लगा है। इस बदलती चिंतन धारा ने ही पिता-पुत्र, भाई-भाई और पति-पत्नी के बीच वह खाई बना दी है जिसका भर पाना अब असंभव प्रतीत होता है। विवाह के बारे में भी ऐसी ही छिछली धारणाएं विकसित हो गयी हैं। विवाह तो अब एक कानूनी बंधन या शारीरिक संबंध का आधार मात्र रह गया है। नैतिकता और धर्म से उसका अब कोई नाता नहीं। मृत्यु के बाद किये जाने वाले संस्कार भी अब बदल गये हैं। जो मर गया वह मर गया अब कैसा ताम-झाम, अब कैसा पूजा-पाठ ? मुण्डन, कर्णवेध, विद्यारंभ, उपनयन तो शिष्ट संस्कृति से लुप्त हो चुके हैं। नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वेदारंभ और समावर्त्तन आदि संस्कार नहीं रह गए। इनके बारे में कोई सोचता भी नहीं। अलबत्ता नगरीय संस्कृति में कुछ नये संस्कार जुड़ गए हैं जैसे जन्मोत्सव की वर्षगांठें मनाना, *मैरिजडे* या इसकी *रजत* और *स्वर्ण जयंतियां* मनाना तथा इसी प्रकार कुछ और भी। इन नये संस्कारों पर कोई वैदिक क्रिया या पूजा-पाठ न होकर दावतें, धूम-धड़ाका और नाच-गाना होता है।

इसके विपरीत लोक संस्कृति में संस्कारों के प्रति अधिक लगाव देखा जाता है। अधिकांश प्रचलित भी हैं। संतान का घर से बाहर निकलना, अन्न प्राशन, कान छेदना, मुण्डन, विद्यारंभ, जनेऊ आज भी चल रहा है तथा इन अवसरों पर कुछ न कुछ धार्मिक कृत्य संपादित होते हैं। लोक संस्कृति में भी कुछ नये संस्कार जैसे, छठ्ठी-बरही, गवना-दोंगा आदि जुड़ गये हैं। अब इन संस्कारों के प्रति लोक संस्कृति में भी उदासीनता देखी जा रही है। नगरीय और पश्चिमी संस्कृति का झोंका वहां भी जा रहा है। अब गांवों में भी प्रसूतिगृहों और मैटर्निटी होम में बच्चे पैदा हो रहे हैं तथा डाक्टरी दवाएं हो रही हैं। पुराने पारिवारिक लोकाचार लगभग समाप्त हो चुके हैं। बच्चे मुण्डन कराने, जनेऊ पहनने और कान छेदवाने के कतराने लगे हैं। औरतें बच्चों को काजल नहीं लगा रही हैं, सर पर तेल नहीं रख रही

हैं और अपना दूध नहीं पिला रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैज्ञानिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो कुछ बातें ठीक हैं किंतु झूठी शान में अपने संस्कारों की उपेक्षा अच्छी बात नहीं।

प्राचीन भारत में व्रतों और त्यौहारों के प्रति विशेष आस्था रही है। लोक संस्कृति में यह आज भी है किंतु अभिजात संस्कृति में तड़क-भड़क और दिखावा अधिक प्रवेश कर गया है। वहां तो नित्य ही पर्व-त्यौहार हैं, रोज ही पार्टियां, उत्सव और मेले हैं फिर क्या विशेष और क्या सामान्य ? व्रतों-त्यौहारों से उनका विश्वास उठ चुका है। भारतीय मानस का वह वर्ग जो पश्चिम से प्रभावित तो है किंतु अभी भी देश की संस्कृति से जुड़ा है। इन पर्वों और त्यौहारों के प्रति थोड़ी बहुत आस्था रखे हुए है। हां इतना अवश्य है कि इनके व्रतों-त्यौहारों और पर्वों के मनाने का रंग-ढंग खिचड़ी हो गया है। दीपावली पर मिठाइयां खाना, पटाखे छोड़ना और आतिशबाजियां करना, जुआ खेलना, होली पर हजारों का रंग बहाना, शराब पीना, अभद्र व्यवहार करना तथा दहशरे पर कीमती कपड़े पहनना, मेले देखना, जलसे मनाना ही इनका त्यौहार मनाना है। यह वर्ग दुविधा की स्थिति में जीता है कभी इधर तो कभी उधर। तीसरा वर्ग जो शुद्ध रूप से लोक संस्कृति का पोषक है वह अपने अज्ञान, अशिक्षा या भोलेपन में इन व्रतों, पर्वों और त्यौहारों को जिलाये हुए है। क्योंकि वह आस्तिक है, भगवान से डरता है। यह मानता है कि व्रतों, त्यौहारों में शक्ति है। वह इन्हें ऋषि-परंपरा और पूर्वजों की देन मानता है, देवी-देवताओं से संबंधित मानता है। सोचता है कि ऐसा न करने से उसका जीवन दुखी होगा, अगला जन्म बिगड़ेगा और उसे दैवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा। स्त्रियों का तो इन व्रतों-त्यौहारों से विशेष लगाव रहता है। सच पूछा जाए तो हमारे देश का लोक धर्म स्तिरयों से ही जीवित है। वे पति, पुत्र और परिवार के सुख के लिए नाना-प्रकार के व्रत रखती हैं। पूजा-पाठ करती हैं तथा त्याग और तपस्या का जीवन बिताती हैं। उनकी आस्था पर शिक्षा, वैज्ञानिकता और पश्चिम का असर हावी नहीं हो पा रहा है—यही देखकर संतोष होता है। शायद इसीलिए हमारी संस्कृति में उन्हें ऊँचा स्थान प्राप्त रहा है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में पीपल, तुलसी, गंगा आदि के पूजने की चर्चा है। यह सर्वथा धार्मिक ही नहीं वैज्ञानिक भी है। आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि वृक्षों की रक्षा की जानी चाहिए। वे पर्यावरण को शुद्ध बनाने के सर्वोत्तम साधन हैं। *पीपल, नीम और कुछ दूसरे वृक्ष बहुत अधिक आक्सीजन प्रदान करते हैं। तुलसी और नीम रोगोपचार के लिए उपयोगी हैं जब कि गंगा-जल अमृत के सदृश। गाय की पूजा उसकी उपयोगिता और लाभों को ध्यान में रखकर ही की गयी है। वह अकेला पशु है जिसका गोबर कीटाणु नाशक होने के कारण स्पर्श्य और पूजनीय है।*

ललित कलाओं में काव्य कला का प्रमुख स्थान है और काव्य कला में लोक काव्यों का। सच पूछा जाए तो लोक काव्य ही आधुनिक शिष्ट काव्य के आधार हैं। पहले लोक भाषा बनती है फिर परिष्कृत भाषा। इसी प्रकार पहले लोक साहित्य बनता है फिर परिनिष्ठित साहित्य। किसी भी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह बात सिद्ध होती है। यशस्वी भाषा

संस्कृत को ही लीजिए। पहले तो इसका लोक स्वरूप ही प्रचलित था जिसका संस्कार होने पर यह संस्कृत कहलाई और साहित्य—रचना का माध्यम बनी। इसी प्रकार हिंदी भी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि के रूप में लोक भाषा रही जो परिष्कृत होकर खड़ी बोली के रूप में जनमी। यही हाल इसके साहित्य का भी है। न जाने विभिन्न भाषाओं के कितने लोक कवि और उनकी रचनाएं काल के गाल में समा गयीं जिनका हमें कुछ अता-पता ही नहीं। जो किसी प्रकार बचे रहे, इतिहास के पन्नों पर आ गए। कबीर, सूर और कई महाकवि पहले लोक कवि हैं बाद में कुछ और। जायसी, तुलसी और इस तरह के अनेक कवि पहले लोक द्वारा ही पूजे गए, फिर विद्वानों और सुसंस्कृत लोगों द्वारा। लोक साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि वह सदियों तक परंपरा और लोक कंठ में जीवित रहा है, उपेक्षित और भूला रहा है। इसका अध्ययन तो नए युग की देन है, जब लोगों ने इसका महत्व समझा। यही तो वह सच्चा आईना है जिसमें मानव जाति की सही तस्वीर उतरती है। यही तो नैसर्गिक, सहज, स्वाभाविक और वास्तविक है। परिनिष्ठित साहित्य तो सभ्य और विकसित मानव मस्तिष्क की क्रीड़ा है। उसमें वह प्राकृत और निश्छल धारा नहीं जो लोक साहित्य में है। परिनिष्ठित साहित्य मस्तिष्क की उपज है जबकि लोक साहित्य हृदय का स्पंदन। हां, इतना अवश्य है कि आज का भारतीय मानस उन्नत साहित्य में ही जी रहा है। यह युग की पुकार भी है और जरूरत भी। किंतु वह अपनी नींव, निजता और आधार ही भूल जाए यह उसे शोभा नहीं देता। आज लोक साहित्य और लोक कलाओं को अनपढ़ और असभ्य लोगों की वस्तु मानकर एक विभाजन रेखा खींच दी गई है तथा बुद्धिजीवियों और अभिजात वर्ग द्वारा इसे पुरानी परंपराओं की उपज मानकर जीवन की गहन समस्याओं, संघर्षों और उच्च विचारों से अलग कर दिया गया है। वस्तु स्थिति यह है कि यह अब तथाकथित सभ्य समाज के खाली समय का मनोरंजन या मन बहलाव का साधन बनकर रह गया है। कुछ राष्ट्रीय पर्वों या उत्सवों पर अथवा विदेशी मेहमानों के सामने उसे प्रस्तुत कर हम उसके प्रति आस्था प्रेम और संरक्षण-संवर्द्धन का दावा नहीं कर सकते। हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारतीय भाषाओं का लोक साहित्य ही उसकी गतिशीलता, सफलता, सामाजिक सौहार्द, सद्भावना, सहयोग और कल्याण का मूलाधार है।

लोक कलाओं के विषय में भी भारतीय मानसिकता कुछ इसी प्रकार की है। लोक संगीत, लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोक वाद्य तथा ग्रामीण अंचलों में हजारों सालों से पल रही अनेक उपयोगी कलाओं के प्रति भी समाज में पर्याप्त उपेक्षा के भाव जग गये हैं। धीरे-धीरे इनका स्थान आधुनिक और पश्चिमी कलाएं लेती जा रही हैं। यहां तक कि स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्र कला और भारतीय शास्त्रीय संगीत भी विदेशी शैलियों से प्रभावित हो गया है जबकि एक समय इन्हीं का बोलबाला था तथा समूचे विश्व में यहां की कला और संगीत की धाक थी। लोक संगीत अर्थात भारत के विभिन्न अंचलों में प्राचीन काल से ही गाये जाने वाले पारंपरिक गीतों का स्थान अब फिल्मी संगीत ने ले लिया है। हिंदी प्रदेश में गाये जाने वाले प्रसिद्ध गीत कजरी, चइता, फाग, बिरहा, निर्गुन, झूमर,

कहरवा आदि के गायक अब खोजने से मिलते हैं जब कि एक समय मिर्जापुर और बनारस में कजली के बीसियों अखाड़े थे और वर्षाकाल में इनके दंगल आयोजित होते थे। अब तो कभी-कभी ऐसे गीत कुछ विकृति के साथ आकाशवाणी या दूरदर्शन पर सुनाई पड़ जाते हैं। अब तो बच्चों के जन्म और विवाह आदि पर सोहर गाने वाली औरतें मिलती ही नहीं। कारण एक ही है—भारतीय मानस द्वारा इनका तिरस्कार और तिलांजलि।

हमारे लोक नृत्यों का प्रादुर्भाव ही आदिम मानव द्वारा हर्षातिरेक में किया गया। शिकार मिलने या अच्छी फसल होने पर वह झूम उठा और नृत्य का जन्म हुआ। फिर देवी-देवताओं और आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए भी नृत्य किए जाने लगे। धीरे-धीरे इस कला का विकास हुआ और इसका संबंध शिव के ताण्डव से जोड़कर इसकी कई शैलियों कथकली, भरतनाट्यम, कत्थक, मणिपुरी, ओडिसी आदि का प्रचलन हुआ। राज्याश्रयों और दरबारी सहयोग से ये तो फूलने-फलने लगे और इनका मूल 'उपेक्षित' होता गया। *पंजाब का भांगड़ा और गिद्धा, गुजरात का गरबा, असम का बीहू, ओड़ीशा का ओडिसी, मालवा का घूमर-पाली, तमिलनाडु का कोलट्टमकवाड़ी तथा उत्तर प्रदेश के गढ़वाली नृत्य पाण्डव, नागर्जा, अछरी और कुमायूंनी नृत्य झोड़ा, छपेली, छोलियां* आदि के लोक नर्तक अब नयी पीढ़ी में नहीं पनप रहे हैं। नवयुवकों एवं बच्चों का झुकाव बंबईया फिल्मों और महानगरीय संस्कृति की ओर देखा जा रहा है। आदिवासियों और जंगली जातियों में भी नये जागरण और शिक्षा-प्रसार के कारण लोक तत्व नष्ट हो रहा है। *युवक बड़े नगरों की ओर नौकरी की खोज में भाग रहे हैं। लोक नाट्यों की दशा तो और भी शोचनीय है। कभी ब्रज में गोपियां रास रचाती थीं आज वहां के युवक गोपियां बनकर घूम-घूम कर पेट पालते हैं। राम लीलाओं का स्थान अब दुर्गा पूजा ने ले लिया है।* रामलीलाएं होती भी हैं तो दर्शक नहीं मिलते क्योंकि फिल्मी तड़क-भड़क के आगे वे असफल हैं। *मध्य प्रदेश का माच, उत्तर प्रदेश की नौटंकी, गुजरात का भवाई, महाराष्ट्र का तमाशा और दक्षिण भारत का यक्षगान* अब जनता में नहीं, टी.वी. कैमरे के सामने या किसी सांस्कृतिक मेले में ही देखा जा सकता है। इस उलट-फेर के भी कारण हैं। देश की बढ़ती जनसंख्या, कृषि भूमि की कमी, जंगलों का विनाश, बढ़ती बेरोजगारी और दूसरी आम जरूरतें आदमी को इन सबसे मुंह मोड़ने को मजबूर कर रही हैं। प्रश्न यह भी है कि आदमी पेट भरे या नाचे-गाये ? भारतीय संस्कृति में नारी श्रृंगार का बड़ा ही महत्व और प्रचार-प्रसार रहा है। इसके लिए सोलह श्रृंगारों की चर्चा की गई है। किंतु अब कितने पुराने श्रृंगार रह गए हैं ? उबटन, अंगराग, अंजन, महावर, दंतरंजन, तांबूल, पुष्पहार और चिबुक बिंदु तो प्रायः लुप्त हो गए हैं। शेष आठ अर्थात शौच, स्नान, सुगंध, केशबंधन, वसन, भूषण, तिलक तथा कुंकुम ही अब बचे हैं। वे भी पश्चिम से प्रभावित। कुटीर उद्योग और दूसरी उपयोगी कलाओं पर भी मशीनों ने अधिकार जमा लिया। लोक चित्र समय के बहाव से घुलते जा रहे हैं। लोक कथाएं अब किसी को याद नहीं। कोई दादी या नानी तो अब कहानियां कहती ही नहीं। बच्चे कामिक्स और सनसनीखेज उपन्यास पढ़ते हैं। आल्हा चनैनी, लोरकी और

सारंगा-सदावृज तथा राजा भरथरी की लोक कथाएं सुनाने वाले अब बारातों और मेलों तक सीमित हो गए हैं। शायद यह उनकी अंतिम पीढ़ी है। लोक कहावतों, लोकोक्तियों, पहेलियों, सूक्तियों, मुहावरों और अन्य लोक निधियों का विषय शोधकर्त्ताओं तक बंध गया है। घाघ और भड्डरी को लोग भूल गए हैं। देशी औषधियां (खरबिरइया) नीम-हकीम खतरे जान हो गई हैं और जब कि प्राकृतिक चिकित्सा फिर जीवित हो रही है। क्या-क्या गिनाया जाए ? जब पूरा ढाँचा ही बदल गया हो, वातावरण ही प्रदूषित हो गया हो और सभी के सोचने की धारा ही मुड़ गई हो तो पुरानी बातें करना, संस्कृति और सुसंस्कार की चर्चा करना बेसुरा राग अलापने से कम नहीं होगा। आखिर यह सब क्यों हो रहा है ? उत्तर एक ही है—भारतीय मानस की चिंतन-धारा में परिवर्तन। □

---
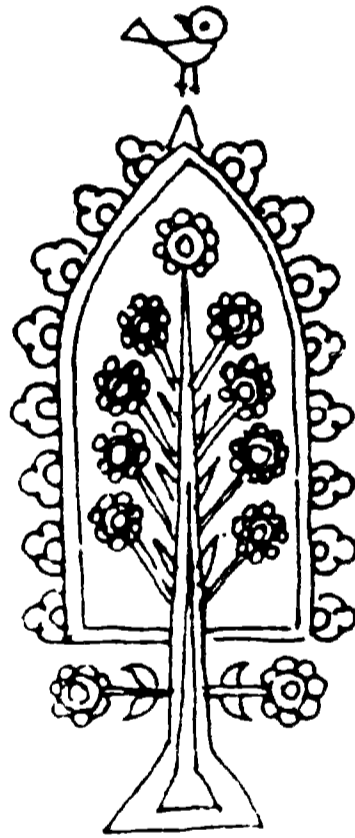
*डॉ. शालिग्राम शुक्ल नीर—लोक संस्कृति के संरक्षण-संवर्द्धन हेतु समर्पित। आधुनिक अवधी एवं भोजपुरी काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर शोध प्रबंध कुछ कृतियां प्रकाशित।*

*संप्रति स्नातकोत्तर महाविद्यालय में शिक्षक एवं संचालक लोक संस्कृति सेवा संस्थान, 301 एलवल, आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)*

**वह जो है अगोचर**

# हम और हमारा समय

डॉ. गंगा प्रसाद विमल

कितना साधारण शब्द है समय। हम उससे मापते हैं अतीत और भविष्य भी, हम उसे जैसे अच्छी तरह जानते हैं, घड़ी की चलती सुइयों में जैसे उसकी हर धड़कन पहचानते हैं। उसे कहीं जाते, या बीतते महसूस करते हैं-हम उसे जानते तो हैं पर पकड़ नहीं सकते। उसे ठहरा नहीं सकते, थोड़ी देर ठिठका भी नहीं सकते। वह शायद खुद भी कहीं ठहरता नहीं है।

परंतु कैसे चलता है वह-यह हमारी मानसिक क्षमताओं से परे है कि हम उसकी परिव्याप्ति के बाबत भी पूरी तरह नहीं जानते कि वह अबाध रूप से समग्र सृष्टि में परिव्याप्त है-अपनी लघुतम से लेकर महत्तम परिगणना में। हम उसके परिगणनात्मक स्वरूप को जानते हैं-गणित की संसर्गवाची इकाइयों के जोड़ के संदर्भ में।

इस समय को देख नहीं सकते-उसे अहसास या बोध की किसी धारणा में जैसे मानसिक स्तर पर चीन्हते हैं। वस्तुओं के रूपांतरण में उसे देखते भी हैं-वह किस तरह अपनी गति से-चीजों को बदल देता है। कहना होगा कि हम उसे अनुभव की *ऐंद्रिक* दृष्टि से देख सकते हैं।

परंतु समय बहुत जटिल चीज है, अत्यंत रहस्यपूर्ण। अगोचर ...। एक दिन, जो हमें सूरज के उगने के साथ आता महसूस होता है-कहां चला जाता है वह धीरे-धीरे? सिर्फ लगता है कि वह पीछे चला गया लेकिन कहां? यह पीछे कौन-सा धारणागत पड़ाव है कि समय उसमें कहीं अचानक विलीन हो गया। जैसे हम अपनी पीठ मोड़ पीछे देखें-और समय को जाता हुआ देख लें वह चीज जो फिर शाम या गहराती रात बन जाती है-वह अगर समय का वस्तुपरक रूपांतरण है तो वह ऊपर या नीचे, दायें या बाएं-सब ओर कौन-सी भौतिक संरचना करती है-प्रभाव के अपने पदांक कहां छोड़ती है।

फिर वे बीते दिन कहां चले गए? कहां? उनके जाने की दिशा, उनके रास्ते पलट कर फिर न लौटने का एक वास्तविक अवसाद ... स्वयं समय की तरह यह अवसाद भी दिशाओं से इतर है।

दिनों के बीतने का अहसास उम्र के किसी हिस्से की तब्दीली के अवसर पर होने लगता है। जैसे ही उम्र के एक हिस्से के जाने का अहसास होता है, तब लगता है जैसे कोई चीज हमसे छूट कर-हमारी पकड़ से कहीं बाहर चली गई हो। फिर न हम बचपन की उस जून दुपहरी को लौटा सकते हैं जिसमें लाख वर्जनाओं के होते, हम न जाने किन

आम्रकुंजों में, न जाने छाया के किस अनाम कोने में भटकते रहते थे-हालांकि हर आने वाले बरस जून के वे दिन लौटते हैं। खूब धूप भरे दिन। गर्म और सताने वाले दिन। आम्रवृक्षों पर बौरें भी महकती हैं। किसी छायाकुंज से कोयल भी कूकती है। पर हम 'वह' नहीं होते जो वर्षों पहले थे। अबोध, निर्भीक निश्चिंत ...

इतिहास के घिंचपिच पन्नों पर कितने लोगों के बचपन अंकित होंगे-उन कागजों पर कितने हंसते खेलते लोगों के चित्र एकत्रित होंगे-जो धीरे-धीरे बाद में बुढ़ा कर, समय द्वारा पराजित हो-उस अंतिम दौर की ओर अवश से बढ़े होंगे जिसे हम मृत्यु कहते हैं। अवश बढ़ने वाले लोग अचानक मृत्यु के गर्त में गिरे होंगे-अवश अनजान से।

आखिर है क्या चीज यह समय? जो हमारी हर चीज से जुड़ा है-पर फिर भी अदृश्य है।

जब धूप खत्म हो जाती है, तारों पर लटकते कपड़े सूख जाते हैं, पेड़ों के साये लंबे होकर बिल्कुल अदृश्य हो जाते हैं-घड़ी का अलार्म बज उठता है-तब हमें लगता है कि कोई चीज है जो हो चुकी है। एक घटित होने के लिए अभिशप्त तो दूसरी उस पूर्वाभिशापित स्थिति की जगह लेने के लिए तत्पर-एक घटित हो चुकी और दूसरी संभावना में बंधी। दोनों के बीच स्थित हैं हम-'हो चुके या होने के शिकार।'

अपने एकांत में, जब खुद को शिकार मानने के लिए विवश हो जाता हूं, तब मैं समय के चेहरे की कल्पना करता हूं-जैसे वह अपने खुले जबड़ों में धीरे-धीरे हमारे *हो जाने* को निगल जाता हो। हम रहते तो वहीं हैं-एक जिस्म खंड पर हमारे जिस्म खंड से बाहर कोई चीज हो जाने की आकृति पा लेती हो, और समय उसे हड़प कर जाता हो।

पर समय का अंतिम आकार-समय के खुद अंत हो जाने की स्थिति ... इन चीजों की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। समय है कि परिमाप में बीतता-सा दीखता-सा दीखता हो, और सहसा पता चलता हो कि न हो, उस परिमाप से बाहर अभी वैसा ही, उतना ही, सदा उपस्थित रहने वाला समय बाकी है।

मैं उस समय की आकृति को *आकृति-विहीन* होते जाने में जैसे देख लेता हूं। महसूस करने वाली आंखों से।

आह। वे आंखें, जो सिर्फ कल्पना में हैं। जो पलभर के लिए समय की ही किसी आत्मज संज्ञा में झलकती हैं फिर ओझल हो जाती हैं। समय की वे आंखें जो रू ब रू मेरे देखने को परास्त करती हैं-बेहद क्रूर हैं। हिंसक, वे मारती ही नहीं-निगल जाती हैं। मर्मघात पहुंचाती हैं, ठीक अपने चरित्र के मुताबिक। क्योंकि ...

क्योंकि उनके बनाये घाव-उनके द्वारा पीड़ित हमारे अंश हमें भी नहीं दिखाई देते कोई चिह्न या अवशेष या पहचान-जैसे समय अपने समानुरूप में नहीं छोड़ता ठीक वैसे ही कोई दृश्यार्थ-कोई दृश्यरूप अपने मनोहारी व्यक्तित्व के द्वारा भी हमें आहत कर कोई अवशेष नहीं छोड़ता। समय एक मायावी पशु है, न रूप न कल्पना की कोई एकरूप, एकनिष्ठ ठिठकन ... फिर भी वह प्रताड़िता करता है। फिर भी वह निरंतर अपने चलने-अपने

पीछे कुछ छोड़ने का भाव दिए जाता है। वह प्रताड़ित करता है कि वह है ... और हम उसे एक ही आयाम में जानते हैं। मैं उसे जब मायावी कहता हूं ... तो मेरा उद्देश्य होता है कि उसे बहुआयामी कहूं। हालांकि वह सबके लिए-सबकी धारणाओं के अनुसार एक है। यहां तक कि परिगणन की तमाम विधियां भी एक-सी हैं।

मैं अंतरिक्ष की ओर देखता हूं। प्राणवायु हो या न हो, धरती कहीं हो या न हो, गुरुत्वाकर्षण की मात्रा कैसी भी क्यों न हो, हमारी जीवन विधि जैसी चीजें कहीं भी तो नहीं हैं।

अंतरिक्ष के विशाल पिंजरे में वह छोटी-सी जाल जैसी पृथ्वी है जिसकी कैद में हम गिरफ्तार हैं। अर्थ यह कि हम जैसे कहीं दूसरी जगह नहीं हैं। पर एक चीज है जो सब जगह है। वह हर जगह मड़राती है। हमारे जाने बिना भी। वह अदृश्य चील-जो अपने डैनों के साये में हमें लिए हुए है। और वह साया है वर्णहीन-अगोचर ... कहीं किसी अजान कैद में कोई अपराधी अपनी सजा की अवधि धीरे-धीरे किसी काल कोठरी में बिता रहा है। उसके लिए कैलेंडर क़ी तारीखें बहुत धीरे-धीरे गिरती हैं। पेड़ के पत्तों की तरह चुपचाप, शब्दहीन। बस अपना यौवन बिताकर *विरूप* हो जाता है। उसके काले, लहरीले केश सफेद, सख्त सुइयों की तरह हो जाते हैं। पर उसी दहलीज पर ... सुबह ठंडी हवा के झोंके सी वक्त की नयी ताजा तारीख के रूप में आती है। धरती अपनी धुरी पर परिक्रमा कर पिछले अतीत की जगह एक नयी सुबह दे जाती है। स्फूर्त, चिड़ियों की चहचहाहट से भरी सुबह। दुनिया भर के अखबारों की सुर्खियों में वह नया दिन चहचहाता है। सुख या अवसाद से परे, अनासक्त, सब चीजों में एकात्मभाव से अपने अदृश्य चरण रख कर वह चला आता है। या शायद हमेशा यहीं रहता हो। ईश्वर की तरह। उसे हम देख नहीं पाते ... पर वह हमारी विचारणा में गति, हमारे अक्षरों में बीत जाने के मानिंद विराजित है।

समय हमारे दायें, बायें ... हमारे ऊपर, नीचे ... सभी जगह तो है। वह अगर पांव के नीचे एक पल आगे बढ़ जाता है तो सिर से भी तो। शून्य अंतरिक्ष में ... काले नक्षत्रों के रहस्य लोक में ... जहां न जाने किस ढंग का जीवन हो ... शायद विचित्र, हमारी कल्पनाओं से परे का या हमारी ऐंद्रिक चेतना के सौंदर्य रुझानों से एकदम विपरीत कुरूप लगने वाला ... वहां भी तो घड़ी, पल बीत जाते होंगे। शून्य का कोई बोध अतीत, इतिहास बन जाता होगा। वहां किस रूप में अपने होने, बीतने, आने को, लक्षित करना होगा। समय ... सचमुच समय के वे करतब विचित्र होंगे।

हर चीज को पराजित करने के लिए कोई दूसरी शक्ति है ... बैल के लिए सांड, जीवन के लिए मृत्यु, शक्ति के लिए ही बुद्धि-बुद्धि के लिए विवेक की कल ... तो क्या समय को परास्त करने की भी कोई विधि होगी-यही कि 'कल' घुमा दें और समय उल्टे चक्कर काटता-हमारी सृष्टि के व्यतीत को फिर झलकाता बेहाल परेशान हो ...

शायद नहीं-ऐसा कुछ भी न हो, समय हमारी विवेक चेतना से भी परे की चीज हो सकता है। है भी। हम उसके आदि और अंत को अन्वेषित नहीं कर सकते। उसके जन्मांतर

का कोई पुराण भी नहीं रख सकते। वह न सिर्फ शाश्वत, अनुपम, बेजोड़ है बल्कि निरंतर नवीन है।

हम उसके सामने बेहद मामूली चीज हैं, अंधड़ के सामने डाल से गिरे पीले कमजोर छोटे-छोटे पत्ते। इससे भी छोटे-अस्तित्वहीन ...

आईंस्टीन ने गति और अंतरिक्ष की एकरूपता के कोष्ठक में *समयहीनता* की परिकल्पना की थी। परिसंबंधात्मक रिश्तों का यह समीकरण समय के बैल को खूंटे से बांधने का वैज्ञानिक आयास था। एक बिंदु, कोष्ठक के भीतर समय को ठहराने की कोशिश अपनी परिधि के भीतर स्वयं-अनुभूत समयहीनता की कल्पना ... एक हल्के ठहराव का अनुमान शायद पल भर के लिए अपने अंदर किया जा सके-पर कितना बड़ा झूठ होगा क्योंकि उस कैद से बाहर समय, सर्वत्र दिशाओं के शताधिक कोणों में चक्राकार, अदृश्य से डैनों में तमाम दृश्य संदर्भों पर बीतने को चिन्हित करता आगे बढ़ रहा होगा। हम उसे कैद करने के समीकरण को खोजने के अहं में क्या खुद अपने बाल सफेद नहीं कर रहे होंगे-अर्थात् समय अपने वैज्ञानिक अन्वेषक को पछाड़ता, बिना कुछ कहे चुपचाप अगली किसी कल्पांत सीढ़ी को लांघ रहा होगा। कहीं विट्गंस्टाइन ने कहा है कि हम अपने घेरे से बाहर जाकर भी अपने घेरे से मुक्त नहीं हैं। मुक्त हैं ही नहीं क्योंकि मुक्ति की हर छलांग में हम अपने साथ अपना घेरा भी ले जाते हैं। सांख्य तर्क भी तो कुछ ऐसा ही प्रबोध देता है।

चाहे वह शून्य ही क्यों न हो। हम उसमें भी समय से मुक्त नहीं हैं। वर्तुलाकार योनिचक्र में जब हमारी बारी पत्थर होने की आती है तो समय की गति हमारे लिए बहुत धीमी हो जायेगी केवल इस अर्थ में कि अब समय की परिगणना के लिए सूक्ष्म संख्याएं बेमतलब हो जायेंगी। पत्थर की योनि में हम शताब्दियां जीने लगेंगे-एक बरस की जगह हम एक शताब्दी-दस शताब्दी-स्थूलता श्रीमापन है कि नहीं-निर्णय नहीं दिया जा सकता?

पर कहा जा सकता है कि कोई चट्टान बहुत सुंदर, रसीली या द्रव्यमय है। हिमालय की विशाल बर्फीली चट्टान-पावनगंगा को प्रवाहित करती है-खुद चट्टान और गंगा तट के पत्थर कितने करोड़ वर्ष रहेंगे-समय की कितनी विराट दौड़ देख पायेंगे वे ... और यहां जीव सृष्टि में समय की एक अवधि नियत है। फूलों या पेड़ों की तरह आना और नियत अवधि के बाद चले जाना। कोयल जो पिछले वर्ष कूकी थी-अब कहीं आम्रांकुर के लिए खाद बन गई होगी।

क्या हम वक्त की खाद मात्र हैं ... नीलवर्णी आसमान, नक्षत्र, आकाश-गंगाएं और हमारी छोटी-सी धरती के पहाड़ अनवरत बहने वाली नदियां, विशाल जलागार समुद्र ... इन सबमें किन-किन आकृतियों में विद्यमान है समय। क्या परिवर्तन की असंख्य आकृतियों में? मंद परिवर्तनशील पहाड़ जैसे समय के किसी पटल के विशाल स्तंभ हों-आकाश जैसे एक चंदोवा और टिमटिमाते नक्षत्र-सूर्यों की अभ्यर्थना में निरत असंख्य सूर्य ... और इन

सबके बीच गुजरती है एक चीज अप्रभावित-सी, सबको प्रभावित करती हुई। और वह है अव्यक्त समय।

हमारे लिए जैसे कर्महीन होना नामुमकिन है, सुसुप्ति के क्षणों में, वैसे ही कोई अवधि समयहीन हो, यह नामुमकिन है। नियंता, नियति, आद्यशक्ति की तरह है समय। क्या समय और कर्म में कोई अंतर्संबंध है, कोई रिश्ता ... क्योंकि कर्म में भी 'होना' है और समय में भी 'होना' नैरंतर्यमय है। और आद्यशक्ति ... तो समय शक्ति है, अविकल्प ऊर्जा स्रोत। क्या वह सृष्टि की तमाम ऊर्जाओं का जनक है? न कभी जनमने वाला न कभी मरने वाला। समय का चेहरा चिर यौवन से मंडित निष्पाप यीशु या कृष्ण या राम के चेहरे जैसा तो नहीं है। न छोटा, न बड़ा, बस आंखों के लिए मनोरम छवि जैसा ... पर क्या सचमुच वह कोई चेहरा है? शायद कल्पना के पार रहने वाली मोहिनी है वह ...

कैसी ऊर्जा है यह-कभी तो चीजों को बदलती है और खुद अपरिवर्तनीय, कभी न खत्म होने वाली ताकत ... शायद एक दिन वैज्ञानिक इसी की खेती काटेंगे और समय मेरे पिछवाड़े बंधी शक्तिशाली भैंस होगा क्या?

थोड़ा ठहर कर सोचें ... क्या है यह समय। इसे हम कोई आकृति न दे सकें-न सही। तब भी यह है तो। जिसे चलता नहीं देख सकते-पर हमारे बीच, हमारे बाहर यह चलता है; घड़ी की टिकटिक में, बीज से अंकुर बनने में, अंकुर से पेड़ होने में, सुबह का शाम में तब्दील होने में।

नक्षत्रों का किसी वर्तुलाकारी पथ में घूमना, और जो घूमता भी नहीं, उस नक्षत्र के अस्तित्व में समयातीत समय घूमता होगा। कल्पना की तमाम सीमाओं को अतिक्रमित कर कल्पना की जा सकती है कि हमारे सौरमंडल का अधिपति सूर्य जिसकी हम परिक्रमा करते हैं-वह ठिठका हुआ नहीं, बल्कि वह भी किसी वृहत्तर मंडल की परिक्रमा करता है। वैज्ञानिक विश्वास को चुनौती दी जा सकती है। जब सूर्य ठिठका लगता है तब वह हमारे विश्वासों की बुनावट में ठिठका हुआ है क्योंकि हम उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। परिक्रमा के बंधन में वह हमें घुमाता है। ठीक समय, शायद समय सृष्टि को घुमा रहा है या कहें कि समय छोटे वर्तुलों की यात्रा का स्वामी है ... हम नहीं देख पाते समय। हम अपनी पृथ्वी को ही सूर्य का परिभ्रमण करते कब देख पाते हैं-हमें तो बोध के स्तर पर सूर्य घूमता दिखाई देता है। पर वास्तविकता है कि हम घूम रहे हैं। किसी यान में यात्रा करते हुए कब पता चलता है कि हम बढ़ रहे हैं-शून्य के फैलाव में आवाज या कंपन से भी जान पाते कि हम आगे जा रहे हैं या पीछे-वह तो बाहर देखते ही लगता है हम कहीं बढ़ रहे हैं। अर्थात् गति का पता संदर्भ से चलता है। समय से बाहर किसी संदर्भ का पता ठिकाना चले तो हम समय के बहके कदमों को देख सकते हैं।

पर सूरज हमारे न सही, किसी दूसरे वृहद्तर सूर्य के चारों तरफ घूम जरूर रहा है ... मुमकिन हो समग्र अंतरिक्ष अपनी वर्तुलाकृति में समय को चारों ओर लपेटे घूम रहा हो ...।

तो यह भी सच हो सकता है कि समय ऊर्जा है और हमारा कोई भावी वंशज समय की 'कल' को पकड़ इस अविकल्प, असमाप्त ऊर्जा का एक अकंपित निर्माण करेगा ... तब समय के रथ पर चढ़े होंगे लोग और वह अदृश्य, अनंत, अनानुभूत, अपरिकल्पित, अवश्यंभावी समय चुपचाप मानव मस्तिष्क से नियमित होगा।

समय के रथ पर आज भी हम हैं-पर आज हम अपनी संकीर्णताओं से अंधे हैं। और हम अंधे हैं इसीलिए वह बल्गा हमारे हाथों में नहीं है। और मैं यह सब कुछ सोचता हूं कि तमाम संकीर्णताओं से बरी, एक विश्व-मानव कब सचमुच समय को अपनी ओर चलायेगा। जैसे अणु का लघुतम अंतहीन है-वैसे ही अंतहीन है मेरा यह आशावाद ... इसका भी कोई परिमाप नहीं है, मैं अपनी दुनिया को भूल कर बस उस आशावाद की तरफ देखता हूं ... जिससे कभी मानवीय संदर्भों में समय के अपरिभाषित ... अगोचर रूप को उस रथ की शल्क में देखूं ... कभी वह आसान हो जायेगा।

समय हमारे पास ही दबी, पड़ी-सी चीज है और जिस दिन वह हमारे लिए अनावृत्त होती है हम हैरत में नहीं होते, बस एक अफसोस में होते हैं-अफसोस में कि उसने हमें तोड़ा है और हम उसे नहीं जानते।

परंतु समय के अंतरंग को जानना चाहे वह कल्पना में ही क्यों न हो, खेल नहीं है। इसे किताबी जिज्ञासा भी नहीं कहा जा सकता ...। पेड़ों से लिपटी पराश्रित, परजीवी लताओं की तरह हम समय से लिपटे हैं-वह सब है और है यहां-वहां ... पीछे ... आगे ... हमेशा ... और हम उसे जानते ही नहीं ...। □

---

डॉ. गंगाप्रसाद विमल : हिंदी में साठोत्तरी लेखकों की पीढ़ी के बहुचर्चित कवि, कथाकार, उपन्यासकार, समीक्षक एवं अनुवादक। विदेशों की यात्राओं के सिलसिले में वहां के साहित्य पर विशेष कार्य। साहित्य की सभी विधाओं में पुस्तकें। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं।

संप्रति : निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, वेस्ट ब्लाक नं. सात, आर.के. पुरम, नयी दिल्ली-110 066

संपर्क : बी-201 एम.एस. अपार्टमेंट्स, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नयी दिल्ली

# गांव में सरकस

## विवेकी राय

बेशक, मुझे घाट-घाट का पानी पीने के बहुत मौक मिले हैं और जीने के लिए बहुत-बहुत पापड़ बेलने पड़े हैं। गोबर फेंकने और खेत में खटने से लेकर अध्यापन, लेखन कर्म तक फैले जीवन की कहानी का तो फिर एक ही शीर्षक बनता है, *सकल कर्म करि थकेउ गुसाईं।*

लेकिन आज अचानक शीर्षक बदल गया। एक दम नया कुछ हो गया कि जिसके बारे में कभी सोचा नहीं था। मैं सरकस का खिलाड़ी बन गया। आश्चर्य कि उस मामूली से बच्चे ने मुझे पटा लिया। मैं नये रोमांच के चक्कर में उसका सहयोगी बन गया।

सरकस मेरे गांव में आया है, यह बात उसी ने मुझसे बतायी। गांव में सरकस? आश्चर्य हुआ। खैर, सरकस वाला ही कह रहा है तो मान लेना पड़ा। बहुत तेज लग रहा था। साफ खड़ी बोली बोल रहा था। उसने बताया कि वे कानपुर के रहने वाले हैं। उनकी कंपनी एक गांव में सिर्फ एक दिन खेल दिखाती है। बगल वाले गांव में दिखाने के बाद कंपनी इस गांव में आयी है। आज तैयारी कर, खेल कल होगा।

'तो तुम मेरे पास क्यों आए हो?' मैंने पूछा।

हुजूर आपका नाम बहुत बुलंद है। इसीलिए सबसे पहले खिदमत में हाजिर हुआ हूं।

इतना कह सरकस वाला खड़ा हो गया और फिर हाथ जोड़कर मेरा पांव छूते हुए बोला, 'सरकार, हम लोग रोजी-रोटी और पापी पेट के वास्ते दर-दर की खाक छान रहे हैं। आपसे हमारी यह दरखास्त है कि आप हमारा खेल देखने जरूर आइएगा, दिन में दस बजे, नोट कर लें सरकार।'

उसके चले जाने के बाद मैंने सोचा, मेरी उपस्थिति का उसके लिए शायद कोई निश्चित अर्थ है और यह मामला 'अर्थ' का है। अच्छे भले लोग जुटेंगे तो अच्छी-भली आमदनी संभव है अन्यथा गांव गंवई में अब कौन कुछ देता है। ढोल पीटकर भीड़ जुटाते हैं। जान लड़ाकर खेल दिखाते हैं। देखकर बिना कुछ जेब से निकाले सरक जाने वालों को बद्दुआ जैसी धमकियां देते हैं, आंखों में कच्चा बैठ जाएगा, कानों पर बज्र गिर जाएगा, पैरों में बाई होगी वगैरह-वगैरह। मगर भागने वाले पट्ठों को हाथ झाड़ कर नौ दो ग्यारह होने से रोकने में मदारी के ये नैतिक दांव ना काफी होते हैं। युग नैतिक दांवों का रहा नहीं। हां, इसके पास अगर कोई राजनैतिक दांव होता तो बात शायद कुछ बनती। मगर, गरीब मदारी से इसकी आशा नहीं की जा सकती। सो, उसके गाहक उसकी आशाओं पर पानी फेरते हुए पीठ दिखा देते हैं।

अब दिखाता रहे मदारी शेष बचे हुए लोगों के आगे गिलगिला कर अपना पेट। पल्ला बिछा है। मदारी के चाकू से 'मरा' उसका जमूरा पड़ा है। आर्त्त और आर्द्र स्वरों में ढोल पर ढिमक-ढिमक वाला सर्द-सा बोल निकालता वह अर्ज करता जा रहा है ... दस-पांच की लाठी एक का बोझ। धर्म-कर्म और ईमान की दुहाई, निकले बाबू धेली-रुपया। फिर ऐसा भी नहीं हुआ कि गांव के बाबुओं ने कुछ नहीं निकाला। बिछे पल्ले पर दस-बीस के कुछ सिक्के गिरे, एक-दो के दो-एक नोट फिंके, छोटे बच्चों द्वारा लाया गया चुटकी-चुटकी भर चावल देखा। लेकिन कुल मिलाकर इस मंहगे लोकतंत्र वाले युग में कितना सस्ता पड़ा यह मदारी का तमाशा? इन खानाबदोश कलाकारों का करतब देखने के लिए माननीय अच्छे-भले लोग घरों से निकले ही नहीं। वे भला मामूली मदारी का खेल देखने निकलेंगे? शायद इसीलिए सरकस वाला एक दिन पहले बड़ों के यहां फेरी दे रहा है ताकि सरकस को भी मदारी का तमाशा समझ ये लोग घरों में न रह जाएं। सोच के इस बिंदु पर पहुंचकर मेरे भीतर बड़प्पन की एक फुरफुरी उठी, गण्यमान्यों में एक हूं मैं भी गण्यमान्य इस गांव में।

दूसरे दिन सुबह वह फिर आया और खेल देखने के लिए प्रार्थना कर चला गया। यह अच्छा लगा। कोई अन्य साधन न रहने की स्थिति में स्वयं ही घूम-घूमकर संपर्क प्रचार कर रहा है। इस गरीब की मदद होनी चाहिए। इसे पांच-दस तक दिया जा सकता है। लेकिन, यह बहुत कम होगा। इतने की कीमत क्या रह गयी? एक लाल पत्ता तो निकल ही जाना चाहिए। ... लेकिन क्या यह अति नहीं हो जाएगा? गांव में आलोचना का विषय बनना ठीक नहीं होगा। ऐसे मामलों को गांव वाले तिल का ताड़ बना चटपटे रूप में इस प्रकार सोदाहरण उड़ाते हैं कि सुनने वालों की सांसें टंग जाती हैं और कुछ अधिक नमक मिर्च, मिलाकर पुनः जब तक वे श्रोतागण उसे दस जगह नहीं सुना लेते हैं, पेट का पानी नहीं पचता है। ... मैं ऐसी शाहखर्ची का मजेदार चर्चाओं का हीरो अर्थात् विशुद्ध मूर्ख क्यों बनूं? तमाशे में जाऊंगा। देखूंगा कि कौन कितना दे रहा है बस उसी हिसाब में मैं भी आ जाऊंगा। इस मामले में गांव वाले ही अगुआ बनें।

लेकिन आश्चर्य? मुझे ही अगुआ बनाने के लिए कुछ देर बार एक प्रस्ताव लेकर सरकस वाला धमक गया।

उसका प्रस्ताव एकदम अभूतपूर्व था। वह एक ओर गौरवास्पद था तो दूसरी ओर लज्जाजनक। कैसे हिम्मत हुई ऐसा प्रस्ताव लेकर सामने आने की? गहरे कुतूहल में आत्मसम्मान का भाव जब डूब गया तो मैंने फैसला किया, अच्छा एक अनुभव इस पवित्र 'दलाली' का भी हो जाए, बन जाऊं मैं भी सरकस वाले का एक कमाऊ पार्टनर खिलाड़ी। यह खेल भी कम मजेदार नहीं। सभ्य आदमी ऐसा ही खेल खेलकर दूसरों की जेब खाली करा सकता है। अरे, हां वह और कौन सा खेल खेलेगा? यह कमाल उसके योग्य है। इसमें कोई बुराई नहीं है। गरीब सरकस वाले की कुछ भलाई हो जाए। थोड़ा नीचे उतरना पड़े तो राजी खुशी से उतर जाऊं। मान लूं उस प्रस्ताव को।

क्या था वह प्रस्ताव?

सरकस वाले ने अपनी गरीबी और मेरे सम्मानित स्थान का रोना-गाना चलाकर अंत में हाथ जोड़कर मुख्य प्रस्ताव सामने रखते हुए कहा, 'बस हम यही चाहते हैं कि एक सौ एक रुपए के इनाम का श्री गणेश आपके हाथों हो जाए।'

'संभव नहीं। मैंने छूटते हुए कहा, मुझ लेखक के पास इतने रुपये कहां? फिर यह काम मुझे बेहद नापसंद है। मैं गांव का बड़ा आदमी हूं भी नहीं। दो चार दिन के लिए आया हूं फिर चला जाऊंगा।'

'आप से बड़ा कोई नहीं ...।'

वह कुछ कहने जा रहा था कि डांटकर मैंने कहा, 'चुप रहो और यहां से भाग जाओ। वादे के मुताबिक खेल देखने आ जाऊंगा और खेल की पसंदगी के मुताबिक इनाम दे दूंगा।'

'अरे नहीं बाबूजी।' वह एकदम कच्च से पैरों पर गिर पड़ा और बोला, 'आप दया नहीं करेंगे तो हम लोगों का दीवाला पीट जाएगा। आपके नाम के भरोसे ही तो यहां हमारी नाव चल रही है। उसे मझधार में मत छोड़िए। .... न सही एक सौ एक, आप एक्-यावन रुपए से ही साइति कर दीजिए।'

'तुम गलत जगह और गलत काम लेकर आ गए। अधिक की उम्मीद मुझसे मत करना।' बहुत गंभीरता के साथ मैंने कहा।

मेरी बात सुन सरकस वाला एकदम हतप्रभ हो गया। वह सिर झुकाकर जैसे किसी गहरे दुख में डूब गया और क्षण भर बाद लंबी सांस खींच कर बोला ...

'अच्छा, तब एक काम कीजिए बाबूजी, मेरी रोजी-रोटी और आपकी प्रतिष्ठा दोनों ही बनी रह जाए। मैं आपको पच्चीस रुपया दे रहा हूं और आप इसमें अपना पच्चीस मिला कर इनाम की साइति कर दें। आपको देखकर कुछ और लोग भी आगे बढ़ेंगे। देखा-देखी पुण्य, देखा देखी पाप। सो, मेरा उद्धार हो जाएगा, यह कहते हुए उसने पच्चीस रुपए मेरी तरफ बढ़ा दिए।

मुझे बेहद झुंझलाहट हुई। भीतर से गुस्सा आया। मन ने कुछ अपमान जैसा अनुभव किया। फिर आश्चर्य हुआ और मैंने रुपया उठाकर उसकी ओर फेंकते हुए कहा, 'यही सब करने-कराने के लिए तुम दो दिन से नाक रगड़ रहे हो? मैं यही सब करता हूं? जानते हो मैं कौन हूं?' और खड़ा हो गया।

'आपको जिला-ज्वार और देश में कौन नहीं जानता है साहब? बस सवाल गरीब की रोटी का है। नाराज मत होइए। अपराध हुआ उसके लिए मारिए-पीटिए, मंजूर है मगर दीन-दुखियों पर दया कीजिए।'

वह घुटनों में रुपयों को दबाए हुए कहता गया, 'यह पांच और ले लीजिए। कुल तीस। इनमें अपना इक्कीस मिलाकर श्री गणेश कर दीजिए। आप जैसा इज्जतदार आदमी एक्यावन से कम क्या देगा?'

वह अब पूरी तरह झुककर अपना सिर पैरों पर रगड़ने लगा। मैं हैरान होकर इधर-उधर

देखने लगा, कोई देख तो नहीं रहा है? अच्छी फसान हुई। न पैर झटकते बनता है और न डांट के बोल कढ़ते हैं। शायद इज्जतदारी का कांटा भीतर कहीं फंस गया था और बाहर गरीब की मदद का बहाना तगड़ा पड़ने लगा था।

वह चला गया। देखा, पलंग पर नोट पड़े हैं, दस-दस के तीन। एक झटका लगा। इस तीस के लासा में फंसे मेरे इक्कीस। उदारता पूर्वक हिम्मत बांधकर जहां पांच-दस कढ़ रहे थे वहां प्रतिष्ठा के नाम पर यह शुद्ध चूना लगा दूने पर। तमाशे में स्वयं एक तमाशा बने ऊपर से। लोगों की नजरें उठ जायेंगी, मास्टर साहब आज बहुत दरियादिल बने हैं। और वे लोग शायद मुस्कुरा देंगे। किस बात पर? अरे, मूर्खता हो गयी क्या?

लेकिन ये विचार देर तक नहीं टिके। लगा, यदि मूर्खता भी है तो शानदार मूर्खता है। मानवता, कर्त्तव्य पालन और गांव-घर की प्रतिष्ठा भी कोई चीज होती है। पछताये मन से नहीं, सिर ऊंचा कर अब सरकस देखने चलना है। मगर, अभी तो दिन के नौ बज रहे हैं।

तपते जेठ माह में दिन के नौ-दस बजे का कोई अर्थ होता है। इस समय हम कहीं घर की ठंडी आड़ में चलें या फिर घनघोर बरगद-पीपल जैसे पेड़ या बगीचे की शरण लें। इस शीतशरणता की स्थिति को देखते दस बजे सरकस देखने चलने के ख्याल से एक भारी आतंक पैदा हुआ। कठिन मोर्चा था। बारह, एक तक इमली के पेड़ ने नीचे खुले में खड़ा या बैठे रहना पड़ सकता था। इस गंवई सरकस के पास वैसी सुरक्षित बैठने की व्यवस्था कहां होगी? अधिक से अधिक कुछ छोटा-मोटा तंबू या चांदनी ऊपर टांग दिया होगा। लेकिन बैठने की व्यवस्था? अरे हां, क्या हो सकेगी उस धूल-धक्कड़ में बैठने की व्यवस्था? खैर, कुछ होगी; देखेंगे। समस्या है कि जब धूप आंच पर चढ़ पकने लगेगी तब यह सरकस शुरू होगा.। वैसे में कितना मीठा मजेदार लगेगा गंवार सरकस का खेल? दाढ़ी बनाकर जूते में *पालिस* किया। साफ कपड़े निकाले। अच्छा मनोरंजनी मूड बनाया। सारे गांव के सामने जाना था। बड़प्पन दिखाना था। तौलिया सिर पर रख लिया। एक बार मन में आया कि छाता ले लें परंतु मन ने ही इसे काट दिया।

छाता लगाकर तमाशा देखने चलने जैसी 'फुटानी' शायद गांव बरदाश्त न करे। फिर अब छाता लगाता कौन है? शायद संसार में छाता लगाने वाला केवल एक मैं ही गंवार रह गया हूं। सो, अब गंवारों के बीच भी छाता लगाकर चलना कठिन है। यह उचित भी है। क्योंकि अब गंवार कोई रहा नहीं। सभी नागरिक हैं। इस चुनाव के गर्म वातावरण में गंवारों की नागरिकता रंग बदलती है कि थाह पाना कठिन हो रहा है। ... कहीं यह सरकस भी किसी पार्टी का प्रचारक ही न हो और लोगों की भीड़ जुटाने के लिए खेल का बहाना किए है? सामान्य रूप से अब किसी पार्टी का प्रचार-भाषण सुनने कोई जाता नहीं। ऐसे खेल का चारा फेंकने पर शायद मामला फंस जाय। सरकस का हल्ला कर बुला लो। जब आ जाएंगे तो सुनेंगे ही। भले ही बाद में गाली देंगे। गालियों से भी एक प्रकार का प्रचार हो जाएगा।

पर राजनीतिक बातों ने मन के खुशनुमा सर्कसी मौसम को बदमजा कर दिया।

आसन्न लोक सभा के चुनाव ने वातावरण को नाना प्रकार के प्रदूषणों से पूर्ण कर दिया है। बिना कुछ किए मन थका रहता है। इस थके मन को सरकस-प्रकरण ने और थका कर भारी कर दिया।

मन का यह भारीपन, उम्मीद थी कि गांव के बाहर इमली के पेड़ के नीचे पहुंचने पर घटेगा परंतु यह तो एकदम उल्टा हो गया। इमली के पत्ते झड़ गए थे। छाया नहीं, बस उसकी छाया का आभास भर था। इस चिलचिलाती दुपहरिया जैसे जलते पूर्वाह्न में उस नाममात्र की छाया में भला कितनी देर तक खड़ा रहा जा सकता है? हां, सरकस का खेल यहीं होने को है परंतु अब तक यहां उसकी कोई सुनगुन या हलचल नहीं है। न कोई तंबू, न टेंट और न कोई उसका ताना बाना। ऊपर इमली की विशाल छतनार छाजन जिससे छनकर नीचे फर्श की गंदगी पर जमी भूरी धूप, दुनिया भर की खर-पतवार, धूल-धक्कड़, मिट्टी और ईंट के ढेले-टुकड़े, झाड़-बुहार की सफाई तक नहीं हुई, ऐसी ही जगह पर सरकस का खेल होगा?

मैंने इधर-उधर नजरें दौड़ायी। तमाशबीनों का कहीं अता-पता नहीं। नाथ बाबा के चबूतरे पर रोज की तरह दो-चार लोग बैठे बातें कर रहे थे। बाग में कुछ लोग सुर्ती ठोक रहे थे और कुछ लड़के अपने खेल में मशगूल थे। सरकस देखने कौन आया है? स्वयं सरकस वाला कहां है, इमली के नीचे ठीक बीचों बीच एक व्यक्ति अपने साथी के साथ ढोलक लिए बैठा था। ये दोनों आदर्श झाड़-झंखाड़ जैसे इंन्सान सरकसी जीव जैसे नहीं लग रहे थे। ढोलक जरूर कुछ संकेत कर रहा था। मगर वह खामोश पड़ा था। तब कल से ही प्रचारित सरकस का क्या हुआ?

वहां पहुंचने पर कुछ लोगों ने नमस्ते करते हुए पूछा, 'इस नावक्त में आप यहां कहां?' अब मैं क्या जवाब दूं? सरकस का नाम लेते संकोच होने लगा। बहाना बना दिया, एक आदमी आने वाला था, नहीं आया। बाहर उसी को खोजते निकल गया। अब आगे समस्या थी वहां रुकने की। कहां खड़े हों? बैठे भी तो कहां? किसके पास? शहरी मन ने मन को बहुत अलग-थलग कर दिया है और अपने ही लोगों से। सो, एक चक्कर बगीचे का लगाकर लौट पड़ा। आगे बढ़ने पर मेरे एक पड़ोसी मिले। वे अपने बैलों को बगीचे में ले जा रहे थे। बोले, 'कहां लौट पड़े? सरकस नहीं देखेंगे? खेल दुपहरिया में होगा।' उन्होंने संक्षेप में कहा और बैलों को भगाते हुए बगीचे की राह पकड़ी। तब मन ही मन मैंने दुहराया, खेल दुपहरिया में होगा? फिर स्वयं से एक सवाल किया, तब मुझे दस बजे बुलाकर उल्लू क्यों बनाया? लेकिन उल्लू कैसे बनाया? खुद बना है। उसके तीस तो इस पाकेट में पड़े हैं .... बस, पर्याप्त प्रमाण है यह उल्लू बनाने का। ये वे तीस हैं जो अपने पास के इक्कीस को खींच लेंगे। इस चपत के बाद यहां इमली की धूप-छाया में उसका प्रचार-पोस्टर बन दो घंटे खड़े रहने की यातना भी जोड़ लें। ... इन सबके बाद मजेदार बात यह है कि कैसा होगा वह सरकस और उसका खेल, यह भी यहां आने के बाद जान लिया। ... जरूर इसमें कोई फ्राड है अथवा राजनीतिक तिकड़मबाजी है।

अपने ऊपर बेहद क्षोभ हुआ। कहां इस चक्कर में फंसा? यदि लौटकर घर चला गया और बाद में खेल हुआ तो वह व्यक्ति हमें खोजेगा। न पाकर क्या सोचेगा? स्पष्ट वादाखिलाफी होगी। भेंट होने पर झेंपना पड़ेगा। ... लेकिन झेंपना क्यों पड़ेगा? दस बजे बुलाया था, सो, आ गया। खेल नहीं हो रहा है तो लौट गया। सामने आएगा तो फेंक देंगे रुपया, ले ये रहे। ऊपर से डांट बतायेंगे तुमने क्या समझ रखा है? तुम्हारी दलाली के लिए क्या मैं बिक गया था जो घंटो इंतजार में बिताता? तुमने क्यों नहीं कहा कि सरकस का खेल दुपहरिया में या लगभग एक बजे होगा? इतने पर भी नुकसान तो बेचारे का हो ही जाएगा। वह जो फटीचरों की तरह गिड़गिड़ा रहा था, घड़ी कहां बांधे था जो ठीक दस बजे का मर्म समझता? फिर कौन आज देश में किसी 'ठीक बजे' को ठीक मानता है? उसके दस बजे की भाषा को मैं स्वयं नहीं समझ सका तो उसका क्या दोष? हमारे जैसे सफेद पोश लोग जहां भी जाते हैं, लेट जाते हैं। इंडियन टाइम का एक मुहावरा ही उछल गया है। बारह-एक बजे पहुंचने के लिए बोल दिया तो उसका गणित गलत कहां रहा? उसे क्या पता था कि मैं इतना बेकार आदमी हूं कि घड़ी देखकर गंवई सरकस खेल देखने चला जाऊंगा?

इमली की तपती छांव के किनारे खड़े होकर मैं उल्टे-सीधे विचारों के बवंडर में उड़ने लगा। तब क्या करें? सवाल भीतर से उठा। दो घंटा प्रतीक्षा संभव नहीं और न ही विश्वासघात मन को गवारा होगा। तीसरी ओर घर जाकर वापसी कठिन है। फिर मार्ग क्या है? हां एक बात हो सकती है। कोई बहाना बनाया जा सकता है।

डूबते मन को जैसे तिनके का सहारा मिला। मैंने सोचा, उस व्यक्ति से भेंट कर पूरे सद्भाव के साथ पैसे वापस कर दूं। कह दूं, देख बेटा, तूने दस बजे बुलाया। मैं आ गया। तुम्हारे खेल में देरी है और मुझे बारह बजे जरूरी काम से बाहर जाना है। सो, ये रुपए लो और अपना कोई और इंतजाम कर लो ...। लेकिन वह है कहां? पूरे परिसर पर कई-कई बार दृष्टि दौड़ाई। अब तक वहां यथास्थिति थी। एक पड़ोस के लड़के को उसकी बात बताकर उसके यहां आते ही घर भेजने का काम सौंप मैं लौट पड़ा।

मन में खुशी थी कि इक्कीस पर चूना लगते-लगते रह गया। कैसी हो गयी है दुनिया? जैसे होड़ लगी है, कौन किसको कितने उल्टे छुरे से मूंड़ अपना उल्लू सीधा करता है। यह देखा चिमिरखी-चिड़ीमार जैसा उठल्लू सरकस वाला मुझे पट्टी-पढ़ाकर निकला जा रहा था। भले वक्त पर सरकस की भी कलई खुल गई। अच्छा हुआ कि मैं वहां गया तो वह गायब था।

लेकिन यह क्या? लौटा तो वह फिर मेरे यहां हाजिर। शायद किसी ओर से आया था और अनुपस्थित देखकर जा रहा था कि मैं वापस होता दिख गया। उसे देखते ही मैंने चट कुछ अतिरिक्त कार्यभार, तनाव, उतावली, हड़बड़ी भरे तथा भरे-भरे आक्रामक चेहरे को ओढ़ते हुए कहा—'क्यों जी, खूब हो रहा है न वहां दस बजे सरकस? उल्लू बनाता है?' और उसके चेहरे पर नजर पड़ी।

देखा उदासी, मनहूसी, पीड़ा और निराशा के साथ हैरानी-परेशानी की गाढ़ी छाया में वह घिरा हुआ है। नहीं, मेरी तरह इसके पास दूसरा चेहरा नहीं है। फिर मन विचलित होने लगा किंतु अभी अपने तेवर में मैं ढिलाई नहीं आने देना चाहता था। कहता गया ...

'क्यों ऐसी कड़ी धूप में नाहक परेड करा दिया? क्या मेरा वक्त फालतू है? तुम्हारी रोजी-रोटी के लिए दो घंटा पहले मैं क्यों तुम्हारा प्रचार-पोस्टर बना वहां खड़ा रहूं? ... मेरे यहां ऐसे काम के लिए तुम्हारे आने की हिम्मत हुई, यही बहुत बड़ी बात हुई। तुम्हें यह पता नहीं है कि मैं कौन हूं?'

'आनरेबुल सर, इक्सक्यूज मी, मेरे पैरों को बारंबार छूते हुए उसने कहना शुरू किया तो चौंक उठा, अरे यह तो अंग्रेजी झाड़ रहा है और उसने भी शायद मेरी कमजोर नस पकड़ लिया था—

'आपको कौन नहीं जानता? सारी दुनिया में आपका नाम सूरज की तरह चमक रहा है और इसीलिए कड़ी धूप में छांह के लिए सरकार की शरण में आया। पापी पेट के लिए हम कलाकार ...।'

'खाक कलाकार? देखा तो कि वहां उचरूंग-झींगुर जैसा एक कीड़ा ढोलक लिए एक ढेंका जैसे जंतु के साथ बैठा है। ऐसे ही होते हैं सरकस के कलाकार? फिर वहां क्या था कि लगे, कुछ होने वाला है?' मैंने बात काटकर कहा।

'फटाफट मिनटों में बहुत कुछ हो जाएगा सरकार। पूरी पार्टी है और तमाम-तमाम सामान है। मैं उन्हीं लोगों को लिवाने गया था।'

'और लिवाकर गांव की गली-गली होते चले आ रहे हो। ट्रक पर, बैलगाड़ी और गधों पर सामान लादे अकेले ही। ... अरे यह क्यों नहीं कहते कि दलाली के लिए कुछ और लोगों पर लासा डालने गया था,' मैंने व्यंग्य किया।

'अरे यह क्या कह रहे हैं सर? उसका मुंह ऊपर टंगकर अवाक् हो खुला रह गया। आंखें फटी-फटी और चेहरे पर जैसे *अनर्थ* उतर आया, जैसे उसने कुछ ऐसा सुन लिया जो परम अवांछित हो। फिर क्षण भर बाद हाथ जोड़कर थरथराती वाणी में बोला—

'बहुत अफसोस है मुझे कि बाबूजी ने श्री गणेश को दलाली समझ लिया। बड़ी-बड़ी जगहों पर इसे उद्घाटन, शिलान्यास अथवा *इनागरेशन* आदि कहकर बड़े-बड़े संत महंत और मंत्री-मिनिस्टर ...।'

'धतेरे की। मैं मामूली आदमी हूं जी, मंत्री मिनिस्टर नहीं, समझे?'

'जी मालिक समझा। बड़ी गलती हो गयी जो आपको तकलीफ दी। माफी चाहता हूं। मैं तो आपको मंत्री-मनिस्टिर वगैरह सबसे ऊपर समझा था। खैर,.किस्मत की बात है। अब इजाजत दीजिए, मैं चलता हूं।' वह हाथ जोड़े और फिर सिर झुका कर जाने लगा।

अचानक मुझे लगा, कहीं कोई गलती हो गयी क्या? और दौड़कर उसे बुलाया—

'अरे सुनो जी, सुनो तो। कहां भागे जा रहे हो, कम से कम अपना रुपया तो लेते जाओ।'

'अब क्या रुपया ले जाऊं बाबू जी,' वह लौटकर कुछ पास आकर नाराजगी के स्वर में बोला, 'मेरे आज के बिजनेस का तो भट्ठा बैठ गया।' और फिर कुछ और आगे आकर हाथ जोड़ गिड़गिड़ा उठा, 'हम आप जैसे मालिक लोगों से बराबर कहते हैं, सरकार पीठ पर चाहे जितना मारिए, पेट पर लात मत जमाइए। ... आप ही के भरोसे तो इस गांव में झंडा गाड़ रखा है और इधर आप इस प्रकार दुतकार रहे हैं।'

'दुतकार कहां रहा हूं जी।' मैंने कहा, 'मेरी बात सुनो। अब मेरा वहां जाना संभव नहीं मुझे अन्यत्र जाना है।' मुझे यह झूठ बोलते कुछ हिचक हुई परंतु जब एक बार बोल दिया था तो फिर आगे आगे बोलते ही जाना था। भले इसके लिए अपने को दंडित करना पड़े। मैंने आगे कहा, 'हां, तुम्हारे लिए एक कष्ट मैं उठाने के लिए तैयार हूं रास्ते पर से अंदर बैठक खाने में जाओ।'

सरकस का खेल देखने वाले कुछ लोग धीरे-धीरे रास्ते पर जाते दिखायी पड़े। मैं सावधान था कि हमारी बातें कोई न सुने। छोटी-बड़ी हर चोरी अपने लंबे सिलसिलों के साथ आती है। खैरियत थी कि हमारी गोपनीयता अब तक बनी थी। इसीलिए मैंने उसे भीतर बुला लिया और आकर बैठ गया तो स्वयं भी बैठते हुए मैंने अत्यंत संयत होकर कहा—

'देखो, मैं तुम्हें बिना शो देखे दण्ड स्वरूप अपना अग्रिम पुरस्कार दे रहा हूं ... पहले सोचा था, दो रुपया दूंगा। लेकिन तुम लोग मामूली मदारी नहीं, शायद सरकस वाले हो। अतः पांच रुपया दे रहा हूं। ... ये रहे तुम्हारे दिए तीस और यह रहा मेरा पांच। बस ले लो और जाकर अपना आगे का प्रबंध देखो।'

रुपए मैंने उसके आगे फेंक दिए।

'अरे, अरे, यह क्या किया आपने? यह तो भारी मुसीबत हो गयी सरकार। इस गरीब पर दया कीजिए। इतना मत सताइए। मैं हाथ जोड़कर माफी चाहता हूं कि दस बजे मुंह से निकल गया। अब उसे माफ कर छनभर के लिए मेहरबानी कर दीजिए शिरीमानजी। रुपए ये रख लें। हमारा श्रीगणेश आपके ही हाथों होना है। आप नहीं चलेंगे तो कौन ...'

मैंने देखा, यह मदारी तो फिर आरंभिक बिंदु पर आ गया। इधर बात कितनी आगे बढ़ गयी है। मैंने गंभीरता से कहा—

'देखो बेटा, संभव नहीं है। बेकार समय बरबाद मत करो। हां, अब रुपए उठा लो।'

'तो ऐसा करें सरकार कि वह अपना वाला इक्कीस दे दें। ताकि गरीबों को निस्तार हो जाए। इस मंहगाई के जमाने में पांच की क्या कीमत है? आपका यश हम लोग गाते रहेंगे ... मैं तो फिर विनती करता हूं कि छन भर के लिए चल कर अपना वादा पूरा कर दें।'

अब उसका बोलना मेरे लिए असह्य हो गया। जल्दी से छुटकारे के लिए पांच का एक नोट और उसके आगे फेंकते हुए किसी-न-किसी प्रकार उसे समझा-धमकाकर विदा किया और जब वह तीस अपने और दस मेरे लेकर आंखों से ओझल हो गया तो बेहद राहत महसूस हुई यह सोचकर कि इक्कीस पर जहां पानी फिर रहा था वहां दस से गला

छूटा। इस प्रकार शुद्ध ग्यारह का लाभ हुआ। धूप की परेशानी और दलाली से बच गया सो अलग।

भोजन करने बैठा तो अपने सोच के वाक्य का एक टुकड़ा उड़ता-पड़ता मन पर उभर गया और अचानक हंसी छूट गयी, 'शुद्ध ग्यारह का लाभ।'

किस बात पर हंस रहे हो।' मां ने पूछा।

मैंने सारी घटना बता दी। सुनकर उसने सिर पीट लिया। बोली—'धन्य हो मूरख। ग्यारह का शुद्ध लाभ तो झूठा लाभ है और यह क्यों नहीं देखता कि दस की सच्ची हानि हो गयी। भला गांव में कौन सनकी हो गया जो रुपए-अठन्नी वाले मदारियों के लिए एक दहाई से हाथ धो देगा?'

मन फिर भारी हो गया। लेटने पर नींद नहीं आयी और बेचैनी बढ़ गयी तो यह पता लगाने के लिए कि गांव में और कौन-कौन लोग बने हैं सनकी? श्री गणेश किसने किया है?

ज्ञात हुआ कि सबसे अधिक डेढ़ सौ रुपया ग्राम सभापति ने दिया है और उसके बाद सरपंच साहब ने एक सौ एक निकाला है। बाकी लोगों में से कुछ थोड़े से 'प्रतिष्ठित' लोगों ने देखा-देखी जेबें टो-टो कर और कांख-कांखकर दो-दो चार-चार रुपए फेंके हैं। कुछ लोगों ने अठन्नी-चवन्नी और दस पैसे उछालकर घर की राह ली है। शेष लोग धूल झाड़ कर इस प्रकार झुनझुनाते हुए मैदान छोड़ उल्टे पांव चल दिए हैं कि दोकड़हा मदारी राजनीतिक तिकड़मबाजी कर गांव वालों को उल्लू बनाने के चक्कर में था।

बातें सुनकर और कुछ सोचकर जी का कांटा निकल गया। कितना अच्छा हुआ कि मैं डेढ़ सौ और एक सौ एक वालों के बाद एकयावन वाला तीसरा मूर्ख बनते-बनते बच गया। लगता है, बेचारा सरकस वाला जल्दी-जल्दी में मेरे स्थान पर श्री गणेश वाला आसामी नहीं फंसा सका।

जल्दी-जल्दी घर आया। मां को सुनी खबरें सुनानी थीं और बताना था, मैं मूर्ख या सनकी नहीं रहा। सरकस के नाम पर लोगों ने सौ-सौ डेढ़-डेढ़ सौ तक न्यौछावर किए हैं।

लेकिन इस समाचार को सुनकर मां प्रसन्न नहीं हुई तो भीतर खटक हुई कहीं कोई भूल है क्या? और तभी एक विचार ऐसा आया जिसने मुझे दुख के सागर में गोते लगाने के लिए विवश कर दिया। मैं यह सोच-सोचकर छटपटा उठा कि उतनी-उतनी तारीफों का पुल बांधने के बाद भी सरकस वाले ने मुझे थर्डग्रेड में रखने लायक ही समझा था? □

---

*विवेकी राय : हिंदी कथा साहित्य और ललित निबंध में विशेष ख्याति प्राप्त रचनाकार। साहित्य की विविध विधाओं में चालीस से अधिक किताबें। निरंतर सृजनशील। अभी-अभी राष्ट्रीय भावों से ओत प्रोत अपना सातवां उपन्यास 'मंगल भवन' पूरा किया है।*

*संपर्क : बड़ी बाग, गाजीपुर (उत्तर प्रदेश)*

---

## मराठी कहानी

# वही सब लगातार

गौरी देशपांडे

वैसे धनंजय से शादी करने का मेरा इरादा तो बिलकुल नहीं था लेकिन वह मुझे अच्छा जरूर लगता था। किसी आदमी के अच्छा लगने पर उससे शादी कर घर बसा लेने का पागलपन मुझमें उस उम्र में नहीं था।

हुआ कुछ ऐसे कि मैंने नयी-नयी एम.ए. की डिग्री ले ली थी। मैं पढ़ाई से पूरी तरह ऊब चुकी थी। अपना पेट पालने के लिए हर रोज वैसे ही ऊबे हुए बच्चों के सामने वैसी ही उबाऊ बकवास करते रहने में अब मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। दरअसल बात यह थी कि धनंजय ने शादी का प्रस्ताव रखा था। मेरे पास तब और कुछ करने के लिए नहीं था। उस जमाने में पेट पालने के लिए और वक्त गुजारने के लिए शादी करना समाज को पूरी तरह मान्य था। अब भी है। फिर भी आजकल कभी-कभार कोई पूछ बैठता है, 'क्यों?'

उन दिनों तो बस आनंद ही आनंद था—मांएं, मौसियां, बड़ी बहनें, शादी-शुदा सहेलियां और महिलाओं द्वारा महिलाओं के लिए चलायी गयीं नारी पत्रिकाएं—सभी शादी के समर्थन में थीं। आसपास की शादियों को लेकर मेरे मन में संदेह उठा था जरूर लेकिन वह कुछ खास नहीं था। क्योंकि जब मां-बाप ने पूछा कि अगर शादी नहीं करनी तो और क्या करना है? तो उनके सवाल का कोई जवाब मेरे पास नहीं था। मैंने धनंजय को 'हां' कर दी। सोचा, वैसे मेरी अपेक्षाएं भी कुछ खास नहीं हैं—वह ज्यादा खिटपिट ना करें, ठीक-ठाक पैसे दे दें, खाली समय में मन बहलाएं और थोड़ी बहुत तारीफ कर दें, बस। मेरे दिमाग में यह कभी नहीं आया कि जरा उससे भी पूछ लूं कि उसकी क्या अपेक्षाएं थीं। लेकिन उस भले मानस ने अपने आप मुझे कभी कुछ बताया नहीं। फिर हमारे उस जमाने में माडर्न समझी जाने वाली शादी हुई—यानी लेन-देन की बात किसी ने नहीं उठायी, आंसू नहीं बहाये, पंडित की जगह हम रजिस्ट्रार के सामने बैठे—हनीमून के लिए वही शिमला, मसूरी या देहरादून की जगह एक सुनसान फॅारेस्ट बंगले में हम एक महीना बिताकर आये। इस दौरान मुझे एक डर जरूर सताने लगा था, लेकिन हम अपने घर बंबई लौट आए और रोज की व्यस्तता ने मुझे वह डर भुला दिया। हुआ यह था कि—

शादी के आठ-दस दिन बाद जब हम पति-पत्नी बरामदे में आराम से बैठे थे तो मुझे अचानक लगा कि मैं कोई अच्छी मोटी-सी किताब साथ ले आती तो अच्छा रहता। इतने सारे खाली समय में मैं उसे आराम से पढ़ लेती। जब यह कल्पना दिमाग में आयी

तो मैंने इसे धनंजय को सुना दिया। सुनते ही चौंककर वह मुझे कुछ इस तरह घूरने लगा कि मुझे ऐसा कुछ गलत कहने का एहसास है भी या नहीं। लेकिन मेरी गलती क्या थी, मैं समझ नहीं पायी। शायद वह बुरा मान गया था। क्योंकि उस रात वह मेरी तरफ पीठ फेर कर सो गया। मुझे फिर लगा कि लो, अब अगर साथ कोई किताब होती तो कितना अच्छा होता। लेकिन तब तक ऐसे विचार प्रकट न करने की सूझ-बूझ मुझमें आ गयी थी।

दूसरे दिन धनंजय ने गुस्सा छोड़ दिया। लेकिन सीखे हुए सबक की छोटी-सी कसक मेरे मन के एक कोने में रह गयी थी। घर-गृहस्थी शुरू होने के बाद जैसा कि महिलाओं की पत्रिकाओं में बताया गया था—समय जल्दी-जल्दी बीतने लगा। इनमें छपी घर के रख-रखाव की नयी-नयी विधियों को अमल में लाना, पकवान तैयार करना शामिल था। रोज की साफ-सफाई, खरीदारी, आस-पास की महिलाओं से जान-पहचान, खुद की सुंदरता को बढ़ाना और फालतू सामान से अफलातून चीजों का निर्माण भी करना था। ऐसी कितनी सारी बातें। इसके बाद भी अगर वक्त बचे तो उन किताबों को पढ़ भी लेना था, जो मैं अब तक पढ़ नहीं पायी थी। इसलिए एक लाईब्रेरी की सदस्यता भी ले ली। इसके अलावा धनंजय के वापस लौटने पर उससे गप्पें मारना, उसके दोस्त और परिचितों के सामने नयी-नवेली दुल्हन के रूप में इठलाना-इतराना भी होता था। डर जैसी किसी भावना को मन में पालने की कोई स्थिति नहीं थी। नव वधू के स्वाभाविक नर्वसनेस की संज्ञा देकर मैंने वह पहले महीने वाली पागल कल्पनाएं झटक दी थी।

साल बीता, दो साल बीते। घर, पकवान, साज-सज्जा, मेहमान नवाजी, नयी जान-पहचान सबकी आदत-सी पड़ गयी थी। मोटी-मोटी वैचारिक किताबें जो जाने कब से पढ़ना चाहती थी, उन्हें पढ़-पढ़कर काफी बोरियत भी होने लगी। दोपहर का खाली समय काटने को दौड़ने लगा। धनंजय के दफ्तर से लौटते ही आज तुमने दफ्तर में क्या-क्या किया—कहकर मैं उसके पीछे पड़ने लगी। और अपनी किताबों से पढ़ी हुई कहानियों के सारे दांव पेंच बड़े चाव से उस पर थोपने लगी।

कुछ महीनों तक उसने यह चलने दिया। आखिर एक दिन वह पूछ बैठा—"अब अगर एक बच्चा हो तो तुम्हें क्या ऐतराज? वैसे भी तुम्हारे पास कोई खास काम तो नहीं है ... ।"

सावधान! मैं अब पहले से ज्यादा चौकस हो गयी थी। अन्य किसी उद्योग के अभाव में शादी करने के लिए तो मेरा खास विरोध नहीं था। लेकिन खाली समय का बेहतर उपयोग करने के लिए एक बच्चे को जन्म देकर उसके पालन-पोषण में लग जाना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा, 'ऐसी भी क्या जल्दी है? इससे तो अच्छा है मैं कोई छोटी-मोटी नौकरी ढूंढ़ती हूं।'

उसको मेरी बात कुछ जंची तो नहीं लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा है वह भला मानस किसी चीज में रोक-टोक नहीं करता था। और फिर लिखी-पढ़ी महिलाओं का खाली समय के अच्छे उपयोग के लिए नौकरी करना (पेट भरने का साधन नहीं) भी समाज को मान्य था।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते मुझे एक छोटी-सी नौकरी मिल भी गयी। एक छोटी-सी पत्रिका के लिए जूते गांठ से लेकर चण्डीपाठ तक, जो काम आ पड़े, सो काम करने की। प्रूफ देखने से लेकर विज्ञापनों के ब्लाक प्रेस में ले जाने की, चाय बनाने से लेकर मैटर कम पड़ने की स्थिति में कुछ लिखकर जगह भरने की।

जिस सहजता से मैं उस नौकरी से जुड़ गयी, उस पर मुझे खुद अपने आप हैरानी हुई। मैं धड़ाधड़ प्रूफ देखने लगी, दौड़-दौड़कर प्रेस के चक्कर काटने लगी। पत्रिका में बची हुई खाली जगह का मैटर कुछ इस तरह लिखने लगी कि जैसे पत्रकारिता का पुश्तैनी खून मेरी नसों में दौड़ रहा हो। संपादक महोदय से मेरे पारिवारिक संबंध जुड़ गये। टाइपिस्ट के साथ मैं क्रासवर्ड खेलने लगी। चपरासी की मेहरबाना स मुझे पान खाने की आदत पड़ गयी और सह-संपादक अपने साथ मेरे लिए भी मछली खरीदने लगे। और तो और, मुझे रविवार की छुट्टी भी बेकार-सी लगने लगी।

एक दिन रविवार को हंसते-हंसते लगा कि धनंजय से मैं यह बात भी कह डालूं। लेकिन दो-तीन साल पहले का अनुभव अब भी मेरे मन में कहीं कसक रहा था, उसने अब अपने हाथ-पैर भी फैलाये थे। मेरी पहली तनख्वाह कुछ खास नहीं थी लेकिन तो भी मैंने बड़ी शान से धनंजय को दिखायी। उसी में से उसके लिए एक टाई खरीदी और ऐसी ही कुछ अन्य छोटी-मोटी चीज़ें और फिर कहा, 'ये बचे रुपये रख दो बैंक में'। उसने भी आधुनिक पति कीं-सी उदारता जताते हुए कहा, 'एक ही खाता खोलकर उसमें दोनों के पैसे रख देते हैं'। फिर मैंने सोचा मेरा खाता अलग होना चाहिए। मैंने कह भी दिया। उसने ना नहीं की। लेकिन थोड़ा आश्चर्य दिखाते हुए बड़ी सहजता से उसने कहा, 'ठीक है, बैंक में मेरा रेफरेंस दे देना।' मुझे बहुत अच्छा लगा। लगा मैं आजाद, निडर और कमाऊ हो गयी हूं।

मेरा यह सुखी पारिवारिक जीवन और सीधी-सादी जिंदगी ठीक-ठाक चलने में वैसे कोई अड़चन नहीं थी। कुछ रिश्तेदार और जान-पहचान वाले लोग मिलते तो मेरे भाग्य पर इतराते। 'अच्छा है तुम्हारा पति, जो तुम्हें नौकरी के लिए मना नहीं करता।' मैं अपनी स्वतंत्रता की शान जताते हुए कहती, 'मैंने उनसे पूछा थोड़े ही था। मैंने तो बस कह दिया कि मैं नौकरी करूंगी।' जो पूरा सच नहीं था, लेकिन यह सुनकर महिलाएं मेरे आत्म विश्वास से प्रभावित जान पड़तीं और मेरी तारीफ में कुछ और कहने लगतीं।

हमारी पत्रिका कोई साहित्यिक पत्रिका नहीं थी। उसके सरोकार राजनीतिक और आर्थिक थे। वहां गंभीर विद्वानों का, प्रोफेसरों का और किसी को समझ न आने वाली किताबें और लेख लिखने वाले उच्चपदस्थ अधिकारियों का आना-जाना लगा रहता था। मेरे एम.ए. की उपाधि के आधार पर मुझे लगने लगा उनकी चर्चा मेरी समझ में आ जाती है। मेरी नजर में मेरा स्तर ऊपर उठा। हालांकि एम.ए. की उपाधि थी साहित्य में। फिर भी मुझे अर्थशास्त्र आदि की समझ है तो इसका अर्थ यही हुआ कि मैं स्वाभावतः बुद्धिमान हूं। मुझे लगने लगा कि मुझे भी कुछ न कुछ करना चाहिए। अब संपादक महोदय से

अच्छी खासी जान-पहचान हो चुकी थी—मैंने उनसे कहा, 'यह तो ठीक है कि हमारी पत्रिका साहित्यिक नहीं है लेकिन इसमें साहित्यिक समीक्षा का एक स्तंभ डालने में हर्ज क्या है?'

उन्होंने माथे पर बल डालकर पूछा, 'वह लिखेगा कौन?'

'मैं' मैंने कहा।

'देखते हैं। मैं उसके बारे में सोचूंगा।'

उनकी मेज पर पड़ी 'इकानॉमिस्ट' की तरफ संकेत करते हुए मैंने कहा, 'साहित्य समीक्षा तो इसमें भी होती है।'

यह सुनकर उनके माथे पर एक और बल पड़ गया। उनकी यह धारणा थी कि भारत का 'इकानॉमिस्ट' वही चला रहे हैं, इसलिए मेरा यह तर्क तीर की तरह सीधा निशाने पर लग गया। वह मेरे सुझाव के पक्ष में झुकते हुए नजर आने लगे। उन्होंने कहा, 'लेकिन इसके लिए ज्यादा पैसे नहीं मिलेंगे।'

'किताबों को खरीदने के लिए तो देंगे?'

'हर महीने सिर्फ़ दो किताबें।'

'ठीक है।'

मैं खुश हुई। दौड़कर दो किताबें खरीद डाली। दफ्तर के काम की वजह से वहां समय नहीं मिलता, यह कहते हुए घर में लाकर धनंजय के सामने बैठकर वह पढ़ डाली। स्तंभ की आवश्यकतानुसार समीक्षा लिख डाली और देखते-ही-देखते उस अंक में वह मेरे नाम से वह छप भी गयी। देखते-देखते मैं बड़ी बन गयी थी।

इस चक्कर में किसी एक लेखक का उपन्यास 'उस पार' मेरे हाथ लगा। लेखक बहुत अपरिचित नहीं—इसलिए उसका नामोलेख मैं यहां टाल रही हूं। उपन्यास का असली नाम कुछ और ही है। सच तो इतना ही है कि मुझ जैसे व्यक्ति के जीवन में जैसे 'वह' आते रहते हैं, वैसे वह भी आया। उपन्यास अच्छा था। मैंने उसकी सराहना में समीक्षा लिखी। उसने भी पत्र लिखकर मुझे धन्यवाद दिया। मैंने जवाब में जो पत्र लिखा उसमें उसके दोष दिखाये, उसने मुझे अपना दूसरा उपन्यास भेजा। मैंने कुछ और लिखा ...

हम जब एक दूसरे से मिले तो दोनों तरफ से प्यार में पागल हो जाने की तैयारी हो चुकी थी। अब वह काला-कलूटा-लूला लंगड़ा भी होता तो मैं उसके प्यार में पागल होने ही वाली थी। लेकिन वह तो सुसंस्कृत, सुदर्शन, नितांत अकेला और ऊपर से उपन्यासकार था। अब एक दूसरे को देखने भर की देर थी। अब समझ में आ रहा है औरतों को अपने जाल में कैसे फंसाया जाए, वह यह अच्छी तरह जानता होगा। लेकिन मुझ पगली को तो ऐसा कोई भी मिला ही नहीं था। इसके बावजूद उसकी तरफ से देखा जाए तो न जाने कैसे वह भी सचमुच मुझसे प्यार करने लगा।

हमेशा की तरह खेल-खेल में शुरू की गयी दोस्ती, उसके वे मीठे-मीठे बोल, अर्थपूर्ण कटाक्ष और हंसी ने उसी का पत्ता काट दिया। वह जिस होटल में रुका था उसके

रेस्तरां में बीअर पीते-पीते मैंने यूं ही उस किताब के बारे में मन के कोने में बसी वह कसक वाली बात उसे सुनायी। वह हंस-हंसकर पागल हो गया और फिर कुर्सी पीछे ढकेलकर बड़े लुभावने अंदाज में उठ खड़े होकर उसने कहा, 'यहां आओ, मेरे पास'।

मुझे लगा, गले में कुछ फंस गया है। मैंने जोर से उसे गटक कर गले के नीचे उतारा और मुंह से जोर से सांस अंदर लेकर उसकी तरफ देखती रह गयी। उसने अपनी घनी रेशमी मूंछों पर से हाथ फेरकर वही हाथ आगे बढ़ाया। वह मैंने पकड़ लिया। वह तो खैर ठीक ही किया क्योंकि मेरे पांव लड़खड़ा रहे थे।

अगर कोई मुझसे यह पूछे कि उस वक्त मैं जो कर रही थी—वह सही था या गलत जैसे विचार मेरे मन में आए या नहीं तो मैं दृढ़ता से कह सकती हूं कि वह सवाल मैंने कभी आप से नहीं किया। मेरा शुद्ध विश्वास था कि यह जो हो रहा है, मेरे तन मन में उमड़-उमड़ कर बरस रहा है उसका मेरे धनंजय के स्वच्छ, शांत, सरल जीवन से कोई संबंध नहीं है। यह सब जो मुझे हो रहा है वे 'मेरे मुझ को' या 'इसके मुझ को' हो रहा है।' 'धनंजय की मुझको' नहीं। ऐसा मेरे साथ पहले कभी नहीं हुआ था, लगा नहीं था, उफन कर महसूस नहीं हुआ था—जब वह लौटने के लिए बाहर निकला तो मैं उसकी कमर से लिपटकर फूट-फूट कर रोने लगी। 'श्याम की आई'... देखते हुए एक भी टीस न निकालनेवाली मैं उसे निकलते देखकर कुछ ऐसे रो पड़ी कि जैसे जिंदगी तार-तार हो गयी हो।

वह भी दंग रह गया। और फिर मुझे बांहों में भरकर बार-बार चूमने लगा। उसने मुझे समझाने की कोशिश की। मेरे आंसू पोंछता हुआ वह मुझे सांत्वना देने लगा। और आखिर में उसी पहले आवेग से, उत्कटता से मुझे अपने पास खींचकर बोला, 'अच्छा बाबा! नहीं जाता मैं आज। अब मत रो, मेरी पगली गुड़िया रानी।'

फिर उसके उस स्नेहपूर्ण ममत्व से मेरा और भी रोना छूटने लगा। अपना काम, अपना हवाई जहाज का टिकट, अपनी नाम-प्रतिष्ठा वह मेरे लिए ठुकरा रहा था। ऐसा कभी किसी ने मेरे लिए नहीं किया था। मैंने जैसे-तैसे खुद को संभाला और कहा, 'मैं सचमुच ही पागल हूं। सच, तुम्हें वापस जाना पड़ेगा और मुझे भी।' और फिर मन ही मन पहली बार धनंजय के लिए मन अपराधी महसूस किया।

घर आने पर लगा, मैं अब जरूर पागल हो जाऊंगी। उसके स्पर्श पारस से सुलगते, तमतमाते मेरे शरीर को धनंजय का स्पर्श असह्य लगने लगा। वैसे मेरे धनंजय ने मुझ पर छुअन की बरसात कभी नहीं की थी। रोज बत्ती बुझाने पर वह मेरे बालों को सहलाता। हल्के-से चूमकर कहता था, 'शुभ रात्रि'। कभी-कभी उस शुभ रात्रि के सामने एक प्रश्न चिन्ह उभरता। अगर मैं उसकी अनुक्रिया करूं तो ठीक, ना दूं तो वह दूसरी तरफ मुंह करके सो जाता। अब उसका हाथ बत्ती की तरफ बढ़ने से पहले ही मैं अपने आपको चादर से पूरी तरह ढंककर उसकी तरफ पीठ फेरकर सो जाती। मैंने कविताओं में पढ़ा था कि विरही जनों का एक-एक दिन एक-एक साल के जैसा गुजरता है, मैंने इस बात का स्वयं

अनुभव किया। मेरे विचारों को मेरे प्रेमी से दूर ले जाने वाला हर क्षण मेरा बैरी लगने लगा।

धनंजय तो वैसे भी बातूनी नहीं था। मेरी पटर-पटर बंद होने के बाद घर में जान लेवा खामोशी छायी रहती। मैं कोई किताब आंखों के सामने पकड़कर आंसू न बहाने की कोशिश में पूरी शाम गुजारती। धनंजय भी दफ्तर से घर लाये हुए कागज देखता रहता। किसी दिन मैं बाहर की बालकॉनी से नीचे कूदकर जान नहीं दूंगी, ऐसा मैं दावे से कह नहीं सकती थी।

ऐसे कुछ दिनों के बाद (हफ्ते? महीने? साल? युग?) मुझे उसका पत्र मिलाः 'पागल लड़की, मेरे न चाहते हुए भी मुझे तुमसे प्यार हो गया है। तुम आओ ना मेरे पास चली आओ न जल्दी।' ... पत्र हाथ में लिए मैं दफ्तर की दीवार पर लगे बड़े-बड़े अंकों वाला कलैंडर देखती रही। उसकी आवाज, उसके हाथ, उसकी मदभरी बातें याद आयीं तो मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। मैं हाथों में अपना चेहरा छुपाने वाली ही थी, इतने में ...।

संपादक ने अपने केबिन से मुझे पुकारा। एक आह भरकर मैंने उसका पत्र दराज में रख दिया और उनके कमरे में गयी। 'यह देखो, हमारे इस विशेषांक के लिए प्लॉनिंग कमीशन के उपाध्यक्ष से साक्षात्कार बहुत जरूरी है। उनसे अभी-अभी सूचना प्राप्त हुई है कि उनके पास लिखने-विखने का समय नहीं है। लेकिन अगर हम किसी को भेज देते हैं तो वह बोलने के लिए राजी हैं। तुम दिल्ली जा सकोगी? चार-पांच दिन वहां रहना पड़ेगा। बातें टेप करके ले आना। फिर ठीक-ठाक करके हम वह छाप सकते हैं। मैं समीर को जाने के लिए कह सकता था लेकिन वह तो मॉरीशस गया हुआ है। तो? कल यहां से चलना होगा तुम्हें। जा सकोगी?'

मुझे लगा कि मारे खुशी के मुझे चक्कर आ जाएगा। मेरे मुंह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया। चार-पांच और रातें (साक्षात्कार के दो-तीन दिन घंटे छोड़कर) मैं उसके साथ बिता सकती थी। चाहूं तो हफ्ता भर।

संपादक को लगा मैं सोच में पड़ गयी हूं—उन्होंने कहा, 'हवाई जहाज का टिकट और रोज का खर्चा तो दूंगा ही' ...

'अच्छा तो उसे जोड़कर हफ्ते भर की छुट्टी भी दे दीजिए न ... जा ही रही हूं तो जरा दिल्ली भी घूम आऊंगी ...'

मैंने जाने कैसे इतनी सहजता से अपनी बात रखी। उन्होंने कहा, 'लेकिन उस छुट्टी के पैसे मैं नहीं दूंगा।'

मुझे मंजूर था। इसका मतलब था, पूरे पंद्रह दिन मैं और वह साथ-साथ। उसको तार दे दिया। धनंजय के दफ्तर में फोन किया। हाथ में जो आये वे कपड़े बैग में डाल दिये और किसी का कैन्सलेशन लेकर मैं दिल्ली उड़ गयी ...

वहां बहुत कुछ हुआ, जो सब जानते हैं और जो नहीं जानते उन्हें बताकर भी समझ में नहीं आता ...

प्लॉनिंग कमीशन के उपाध्यक्ष अत्यंत विद्वान और विलक्षण बुद्धिमान थे। लंबा,

चौड़ा आदमी, गरजती आवाज, रोबदार चेहरा लेकिन इतने तेजतर्रार कि उनसे सवाल करते करते बातचीत बहस में तब्दील हो जाती। उनका दिया हुआ घंटे-डेढ़ घंटे का समय न जाने कैसे बीत जाता। वह बहुत कुछ सुनाते रहते। उनका सचिव आकर उन्हें समय की याद दिलाता, फिर वह हंसकर मुझे विदा करते।

मैं भागती हुई उसके घर जाती ... उससे लिपट जाती ...।

उपाध्यक्ष के साथ जब लंबी-चौड़ी बातचीत खत्म हुई तो चार-पांच दिन बीत चुके थे। टेप की चार-पांच कैसेट भर चुकी थी। मेरी छुट्टी का एक हफ्ता अभी बाकी था। उसने कहा, बहुत हो चुकी दिल्ली। दूर कहीं चलते हैं, सिर्फ हम दोनों। हम रानीखेत चले गये। वहां मौसम न होने की वजह से क्लब में सब सुनसान पड़ा था। सामान कमरे में डालकर बांहों में बांहें डालकर हम घूमने चले गये। थककर वापस लौटे, खाना खाया और एक दूसरे से लिपटकर सो गये। जागने के बाद जी-भरकर प्यार किया और फिर घूमने निकल गये। दिन ढलने के वक्त वापस लौटकर बरामदे में बैठ गये।

चारों तरफ गहरी खामोशी थी। शाम की सुरमई तनहाई अभी भी रेंग रही थी। हल्का-हल्का कोहरा छाने लगा था। बेंत की कुर्सियों में हम निःशब्द, खुशी से तन-मन से निढाल, कपड़े की गुड़ियों की तरह ढीले, शांत तृप्त फैलकर बैठे हुए थे। रात के झींगुरों ने भी झल्लाना शुरू नहीं किया था। बेअरा द्वारा लाकर रखे गये सोडे की बोतल में बाकी सोडा अभी बुदबुदा रहा था। सन्नाटा इतना था कि उसकी मीठी सुगबुगाहट सुनायी दे रही थी। गिलास खाली करके मैंने सामने वाली मेज पर रखा और उसी धुन में मगन उठकर खड़ी हो गयी। उसकी कुर्सी के पीछे से निकलकर अंदर कमरे में जाते हुए उसके बालों को सहलाने लगी। उसने मेरा वही हाथ पकड़कर उस पर अपना गाल दबाया और अलसायी आवाज में पूछा, 'क्या हुआ?' मैंने उसी धुन में जबाव दिया, 'जरा वह कैसेट निकालकर सुन लूं ... अच्छा खासा वक्त पड़ा है।'

कुर्सी धड़ाम से पीछे खिसकाकर वह उठ खड़ा हुआ, मानो बिजली का करेंट छू गया हो और अपने हाथ में थामा मेरा हाथ छोड़ना भूलकर अवाक् मेरी तरफ देखता ही रह गया ... और फिर धीरे-धीरे उसकी भी हंसी छूटने लगी और उसकी उस हंसी पर मैं भी ठगी-ठगी सी रह गयी। □

---

***मूल मराठी से अरूंधती देवस्थले द्वारा अनूदित।***

## मैथिली कहानी

# पिरथी

जीवकांत

एक बार बड़े जोर से रोने-धोने की आवाज उठी।

चारों बगल की स्त्रियों ने समझा कि पिरथी काका लटके थे, चले गए। चारों ओर की स्त्रियां, जो जहां थीं, पिरथी काका के आंगन की ओर भागीं।

दरवाजे पर बैठे पुरुष-पात्रों ने भी रोना-धोना सुना। लोगों को यह अनुमानं तो था कि पिरथी यह माघ नहीं खेपेंगे, लेकिन किसी को यह अनुमान नहीं था कि वे कातिक में ही विदा हो जाएंगे। पट्टीदारों ने गरदन पर गमछा रखा और पिरथी के आंगन की ओर चल पड़े।

खुशीलाल, जो दोनों पट्टी में सबसे बूढ़े और अनुभवी थे, स्वाभाविक था कि सारा मरना-हरना उन्हीं के हाथों था। ढाई हाथ का भार तो सब पर होता है, मगर इन दोनों घर का भार अब खुशीलाल के ही माथे था।

खुशीलाल पिरथी के दरवाजे पर आए। गमछे से ओसारे पर रखी खाली चारपाई को झाड़ा और उसी पर बैठ गए। तभी आंगन से बंका को निकलते देखा।

'बंकू, क्या रे।'

'पिरथी काका साफ। सोनिया से बात कर रहे थे कि मुझे उठाकर धूप में सुला दो। सोनिया बिछावन करने ओसारे पर आयी, बिछावन किया, घर गई कि अब बाप को उठाकर लायेगी, इतने में ही पिरथी काका साफ ...।'

बंका ने नाक सुड़की। आंखों से ओस बहने लगी थी, उसको बांह से पोछा। खुशीलाल को यह सब कहते वह रुका नहीं, मवेशी के घर की ओर विदा हुआ और भैंस के आगे झांटा हुआ हरा पुआल रख दिया।

पिरथी काका के तीन भाई सहोदर थे, मगर तीनों शांत हो चुके थे। छुटपन में ही बंका का बाप मर गया था। बंका ने पढ़ा-लिखा नहीं, भैंस रखे हुए है। भैंस है, मगर चरवाहा नहीं रखा। खुद ही चराता है। दूध बेचता है, गुजर करता है। मरोसी खेत साल-दर-साल बिकता गया है।

दूसरे भाई के दो बेटे—लाल और दुखन। लाल बाजार में किसी सेठ का सिपाही है और दुखन हजारीबाग के जंगल में भाला लेकर पहरा देता है।

तीसरे भाई का बेटा है सत्तो। उसने गांव में ही छोटी-मोटी दुकान खोल रखी है, जैसी टटपुंजिया दुकान प्रत्येक गांव के सारे टोलों में हुआ करती है।

पिरथी काका राज में कर्मचारी थे। समझदार छोटा कर्मचारी। वे गुस्सा मास्कर चलने

वाले लोग थे, इसलिए गांव में भी कुछ खेत अरजा और कोसी के भीतर भी।

मगर पिरथी काका के भाग्य में बेटा नहीं लिखा था। एक बेटा हुआ भी, तो वह आठवें बरस में ही टूट गया। दो बेटियां हैं—सोना और रूपा। दोनों ब्याहता, ससुराल में बसती हैं। दोनों बेटियां बीमार बाप की सेवा के लिए पीहर आयी हुई हैं।

पिरथी काका अपनी सारी जमीन जायदाद, घर-घरारी दोनों बेटियों के नाम लिख निश्चिंत हो गए थे।

रूपा खेत की ओर गई थी, बथुआ साग खोंटने। रोने-धोने की आवाज सुनते ही खेत से बेतहाशा दौड़ती आई। रास्ते से ही उसने रोना-चिल्लाना शुरू कर दिया और दौड़ती आंगन घुस गई।

तुलसी चौरा के पास लाश पुराने ऊनी शॉल से ढंकी थी। रूपा ने उसका मुंह उघाड़ कर देखा और अपनी छाती पीटती बीच आंगन में लुढ़क गई।

खुशीलाल आंगन में आए और बोले—'अरे, कोई लाश को ढक दो। कोई है नहीं? रूपा को पकड़कर उठा दो।'

सोना के आंचल से तीन बच्चे लटके हुए थे। उसने बच्चों को हटाया और बेपर्द रूपा को संभालने विदा हुई। रूपा का हाथ-पांव उघड़ गया था।

खुशीलाल ने आंगन का हाल देखा। भतीजी रूपा का उघड़ा अंग देखा और दरवाजे पर चले गए। खुशीलाल ने बंका को देखा कि वह मवेशीघर की टाट पकड़े खड़ा है और शून्य में ताक रहा है। 'बंकू! खुशीलाल बोले—बौआ, जरा धूप में खाट डाल देते ... धूप में बैठता।'

बंका रस्सी वाली खाट ले आया और धूप में रख दिया। उन्होंने खाट को एक ओर खींचा और नंगी खाट पर ही बैठ गए। बंका को मनहूस देख पूछा—'चूना है बंकू?' और वह हथेली पर तंबाकू चुनियाने लगे। फिर पूछा—'बंकू, ललबा और सत्तो तो गांव में ही हैं न?'

बंका ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

उन्होंने फिर पूछा—'और दुखना कहां है?'

बंका ने कहा—'दुखन भैया रात ही हजारीबाग से आए हैं।'

'ऐसा करो, सत्तो की दुकान पर चले जाओ। सतबा को कहना बाजार जाएगा। वह बाजार में ललबा को पकड़ लेगा और वहां से कफन ले आएगा।'

खुशीलाल ने तंबाकू का चूना झाड़ा और बंका को कहा—'कुल्हाड़ी और टेंगाड़ी की व्यवस्था करनी होगी। सतबा को संवाद कहकर बांसवाड़ी चले जाओ और एक बांस काट कर ले आओ ...।' उन्होंने एक चुटकी तंबाकू बंका के हाथ में दिया और बचे तंबाकू को अपने होंठों के बीच जगह बनाते अपने आंगन की ओर विदा हुए।

थोड़ी देर बाद खुशीलाल लौटे तो दरवाजे पर लगभग बीस लोग जुट गए थे। कुछ ने खाट को छेंक रखा था। ओसारे पर से चारपाई उतार कर धूप में भी ले आए थे। कुछ

लोग नीचे बैठे थे। उन्होंने आते ही पूछा—'बाजार से कफन आया?'

बंका ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

'और लोग कहां हैं?'

'सब आंगन में हैं।'

खुशीलाल को बैठने का उपक्रम करते देख कुछ लोग खाट पर से उठ गए। खुशीलाल ने खाट को कब्जा लिया। निश्चिंत होने के बाद उन्होंने आवाज दी—'लाल, सत्तो और दुखन, इधर आते जाओ।'

तीनों भाई आंगन से निकल खुशीलाल के सामने खड़े हो गए। 'बैठ जाओ। बंकू, तुम भी इधर आ जाओ। दुखन कलश और कौड़ी का इंतजाम हुआ?'

'सोनिया की मां ने किया हुआ है।' लाल बोला

खुशीलाल ठिकान कर बोले—'आग चारों भाई में से कौन दोगे?'

सब चुप हो गए। चारों ओर शांति पसर गई। दरवाजे पर जुटे बीसों व्यक्तियों ने अपने सर्वांग को कान बना लिया।

बंका ने दरवाजे पर खड़े-खड़े देखा कि उसकी भैंस किसी गृहस्थ के गेहूं के खेत में धंस गई है और वह नए बोये गेहूं के डिंभियों को उखाड़ती जा रही है। वह लाठी लेकर अपनी भैंस को खदेड़ने लगा।

ललबा बैठा-बैठा अपने सेठ को साक्षात देखने लगा, जो एक दिन भी गैर हाजिर होने पर उसका वेतन काट लेता है।

सत्तो ने वहीं से देखा कि सब दिन सुबह में उसका तराजू धोया जाकर दुकान के बरामदे पर धूप में टंग जाता है।

दुखन हजारीबाग के जंगल में भालावाली अपनी लाठी को देखने लगा।

चारों ओर सब चुप थे। कातिक में हवा भी नहीं बहती।

आंगन में रोना-धोना बंद हो चुका था। आंगन की औरतें भी परदेवाली टाट के पास थाहने लगीं कि चारों भाइयों में कौन उत्तरीय पहनता है।

दरवाजे पर जुटे बीसों समाजियों को अकस्मात कातिक की धूप बहुत तीखी लगने लगी। कई लोग अपने सिर खुजलाने लगे।

हवा और धूप निस्तब्ध थी।

किसी की उबासी, किसी का कांखना बारी-बारी सुनायी देने लगा। एक व्यक्ति ने अंगड़ाई ली। एक ने उंगलियां फोड़ी।

निस्तब्धता से एक व्यक्ति परेशान होकर धूप से उठकर ओसारे पर चला गया।

सोना की मां ने टाट के पीछे से कहा—'सोनिया के बाप को मैं आग दूंगी।'

खुशीलाल उनको डपटने लगे—'कुल में इतने समांग हैं, तब आप क्यों आग देंगी। पिरथी न मर गए, उनके खानदान में अभी बहुत औलाद हैं ... ।'

दुखन बोला—'मैं नौकरी पर से छुट्टी लेकर नहीं आया हूं। रुक जाऊंगा तो नौकरी वाली बात है ... ।'

सत्तो बोला—'मेरा तो उदय-प्रलय दुकान ही लेकर है, खुशीलाल काका। उत्तरीय पहनकर तराजू कैसे उठाऊंगा?'

ललबा सोच रहा था कि पिरथी काका की बेटी यदि घरारी बेचे, तो बिना दाम दिए उन चारों भाइयों को घरारी भी पैठ नहीं होगा।

बंका विचार रहा था कि पिरथी काका का तो मैं भतीजा ही था, किनारा नहीं किया होता और दो अक्षर पढ़ा ही दिया होता तो मैं आज चरवाही करके खानदान की नाक तो नहीं कटवा रहा होता।

लाल बोला—'पिरथी काका को यह तो मालूम था। घरारी तक रजिस्ट्री कर गए ... । एक धूर भी भतीजों के लिए नहीं छोड़ा गया उनसे ... ।'

खुशीलाल डपटने लगे—'ललबा, तुम उचित वक्ता बनते हो। पिरथी की लाश आंगन में पड़ी ही है। मरे की निंदा कोई करता है?'

सोना की मां ने टाट के पीछे से खांसा। बंका को हुआ कि सोनिया की मां अब अपने स्वभाव के अनुसार गाली-गलौच शुरू कर देंगी।

ओसारे पर बैठे एक व्यक्ति ने बड़े जोर से उबासी ली। उसने गमछा से अपना हाथ-पांव झाड़ा और उठकर खड़ा हो गया।

बंका को लगा कि लाश जलाने वाले सब लोग अब एक-एक करके उठकर अपने-अपने आंगन चले जाएंगे और आंगन में पिरथी काका की लाश गंधाने लगेगी।

बंका उठकर खड़ा हो गया—'कहां है कलश और कौड़ी। मुझे दो। आग मैं दूंगा।'

बंका यह कहता मवेशी घर घुस गया और झांटे हुए धान के समूचे बोझ को दोनों हाथ से उठाया और भैंस के आगे डाल दिया। □

---

***मूल मैथिली से अनुवाद : केदार कानन***

---

*जीवकांत : मैथिली में दू कुहेसक बाट, पीयर गुलाब छल नहि, कतहुनहि, पनिपत, अगिन बान (उपन्यास) तीन कहानी संग्रह, दो कविता संग्रह।*

*संपर्क : डेओढ़, घोघरडीहा, मधुबनी-847402*

*केदार कानन : मैथिली भाषा में पत्रिकाओं व किताबों का संपादन। कहानियां, कविताएं, समीक्षाएं। प्रगतिशील धारा के हस्ताक्षर।*

*संपर्क : किसुन कुटीर, सुपौल-852131*

## ओड़िया कहानी

# बंधु दर्शन

### प्रतिभा राय

मान लो तुम गुम गये किसी अपरिचित शहर में—आकाश, पहाड़, नदी, घाटी, पेड़-पौधे, आदमी, मेघों का रंग-रूप, चाल-चलन, हाव-भाव सब अनजान, घर-बार, यार-दोस्त अपने शहर का इतिहास-भूगोल सब पता नहीं कितनी दूर रह गया-दिशा का भी पता नहीं चलता। चोटी और ऊंचे पहाड़। उन पर मेघों की फौज और तुम फिसल गये पहाड़ की खोह में। पृथ्वी का कोई एकांत कोना, खुद को खोजते तो कुछ पता नहीं चलता।

चाहे स्त्री हो या पुरुष, बस एक उड़िया हो। फिर किसे खोजोगे, किसे उस शहर में? जरूर किसी उड़िया को। मान लो वह मैं हूं और वह शहर है कलिंपोंग।

दार्जिलिंग से घूम स्टेशन मुड़ गया है पूर्व की ओर। मेग्नोलिया और क्रिस्टोमेनिया के घने जंगल होते हुए नीचे और नीचे चला गया है। हिमालय की ढाल पर शाल और ओक और धुपी की डालियां हाथ बढ़ाकर तैरते मेघों को तू-तू तू ... करती हैं। पहाड़ी के जूड़े से झूलते फर्न की हरी बेणी जमीन तक। ऊंचे पर्वतों की रेशमी चाय की गलीचेदार झाड़ियों के पास मेघ लोट-पोट हो रहे हैं, अंगड़ाई ले रहे हैं। न आकाश में हैं और न धरती पर। हाथ के पास आते, पर पकड़ में नहीं। कुछ और चलो, लंबे पेड़ों की फांक से दिखती ऊंचे पर्वत के घेरे में रंगीन तीस्ता की घाटी। पेड़ों की छाया में चाय बागान में काम करने वाली नेपाली बालायें झुंड की झुंड दुपहर का भोजन करती होंगी। थकान मिटा रही होंगी। 'पेशोक' और 'लोपचु' चाय बागान होते हुए छह हजार फुट ऊंचे जा रहे रास्ते पर हैं तीस्ता एवं रंगीत के मेलजोल के दृश्य, लाड़-चाव की छल-छल ध्वनि संगीत की।

ठीक जहां घने जंगल और ऊंचे पर्वत की ओट में रंगी नदी की निर्मल जल धार तीस्ता के फेनिल जल में मिलती है, वहीं सात सौ फुट की ऊंचाई पर हैं कलिंपोंग का पहाड़ी शहर। गंगतोक और सिलीगुड़ी को जोड़ता है एक झुला पुल। लोग इसे तीस्ता पुल भी कहते हैं। बाजार को कहते हैं—'तीस्ता बाजार'।

तीस्ता बाजार से चौदह किलोमीटर दाहिनी ओर पहाड़ी रास्ते में हैं कतार की कतार पहाड़ी श्रेणियां। उन पर कदम रखते जाओ—मिलेगा—'कलिंगपोंग'। रास्ते के दोनों ओर पछेया (धतूरा) फूल की कतार स्वागत में तुरही बजाने को तैयार मिलेंगी।

उत्तर में छह हजार फुट ऊंचा देओलेर पर्वत, दक्षिण में दूरबीन द्वारा इरबीन दारा के व्यू पॉइंट पर खड़े होकर देखो—मेघ रहित आकाश की सूनी दीवार पर कभी-कभी दिख जाता है कंचनजंघा का आडंबरपूर्ण प्रकाश। देओला पर्वत पर खड़े होकर देखो तो सामने

रंगीत नदी की घाटी के उस ओर एकदम पास सौंदर्यभरा राज्य सिक्किम। रंगीत नदी की घाटी में तैरते मेघों का रास्ती बांध कोई बाहों में भर लेने को पुकार रहा है। तीस हजार की आबादी वाली तीन-चार वर्ग किलोमीटर के घेरे वाले छोटे-से शहर में आदमी दो-चार दिन में ही पहचान में आ जाएगा।

शहर के बीच चौराहे की बाईं ओर मल्ली रोड पर चलो। चार छह घर आगे है मुवाल लॉज। पहाड़ की ढाल में इस लॉज की मझली मंजिल है। और नीचे ढलान पर तीन मंजिलें हैं। ऊपरी मंजिल पर लॉज के मालिक सपरिवार रहते हैं। मैं रहती थी सबसे निचली मंजिल पर बारह नंबर कमरे में। बाहर निकलने के लिए दो मंजिल ऊपर चढ़ना होगा। वह मकान मानों पहाड़ की ढलान में झूल रहा है। प्रायः सब घर यहां ऐसे ही हैं।

मेरे कमरे से सटी लंबी खुली बालकनी भी है। शाम को बालकनी में बैठी शहर को पहचानने की कोशिश कर रही थी। एक सूनापन खुले मेघ की तरह समूचे मन में भर गया। लगा कि मैं दुनिया के किस कोने में आ पड़ी हूं। कहां रहा घर-परिवार।

सितंबर में भी ठंड सिहराती है यहां। सफेद बिस्तर, नरम रजाई ओढ़कर सो गई।

साढ़े पांच बजे सूर्योदय। बालकनी में चली आई। चकित देख रही हूं—इस लॉज को छोड़ सारा शहर गायब हो गया है। सिक्किम की ओर से बहकर आती तीस्ता की घाटी, दक्षिण-पश्चिम के पहाड़, उस पार दार्जिलिंग, कंचनजंघा, आकाश, धरती, याक की थाक वह खेती ... सब मेघ बन चुका है। आकाश ही मेघ बन गया, या फिर मेघ हो गया है आकाश। सब ओर अपनी गुदगुदी हथेली फिरा रहे मेघ ... मुझे और हल्की एकाकी बना देते। जिधर देखो ... धुआं ... मेघ और मेघ। सारी धरती पर धुआं का ढक्कन फिर गया है। या ठंड के कारण तीस्ता से लेकर पहाड़ तक सब धूसर शाल ओढ़कर सो गया है। मेघ का पर्दा हटने से हिल जाता है, मानिनी प्रेमिका की तरह हल्की मुस्कान-सी दूर तक दिख जाता है शहर। आकाश और पहाड़ की सीमा रेखा अस्पष्ट सी दूर तक चली गई है। पृथ्वी का अस्तित्व बता रही है। सामने पहाड़ पर थाक के थाक सीढ़ीदार शहर के कोने में तिरछा मुंह दिखा रहा है सूरज। शहर का चेहरा हंस कर फिर छुप जाता है, मेघ के यायावरी पर्दे में। सिक्किम की ओर, जहां पहाड़ी सीढ़ियों पर धीरे-धीरे घिसती-मंजती उतर जाती है तीस्ता, वहीं है पर्त दर पर्त मेघों का कोई खजाना। बेशुमार मेघ हैं हिमालय के आकाश में! कोई अंत नहीं ...!

मेघ इतना अकेला क्यों बना देते हैं आदमी को? जरा धूप दिखी कि मन करे सहेज लाऊं, गोद में भर लूं उष्मा ले लूं। रेशमी गलीचे-सी घास भरा पहाड़। उसके पास जगह-जगह लोग-बाग घर बनाकर रहते हैं। कतार में पेड़ खड़े कर सजा दिये हैं। वहां भला कोई उड़िया साथी कैसे ढूंढ़ें? इस एकाकी में कैसे कोई बंधु-दर्शन संभव है? एक ओर दिख रहा है पास ही अस्पष्ट मसजिद का कुछ भाग। उसके पार है मंदिर का नुकीला शिखर। धूप चमक रही है। ढलान पर तीस्ता पर से मेघों की टुकड़ियां उड़ी आ रही हैं मानो नहा-धोकर ताजा होकर आयी हैं। नीचे उसके रेशमी जरी का झालरदार चंदोवा झूल

रहा है। उसके नीचे स्पष्ट हो रही है पहाड़ की रेखा।

बरफीले मेघों में निस्संग खड़ी देख रही थी, पीछे से आवाज आई, 'चाय लेंगी?' मुड़ कर देखी। गोरा हल्दी रंग लिए चिकना चेहरा छोटी चमकदार आंखें, चपटी-सी नाक, प्याज के छिलके की तरह गुलाबी होंठ और गाल। तेरह-चौदह वर्ष का होटल-बॉय। ममता भरी आंखों में चाय के लिए पूछ रहा है। देखते ही लगा—यह तो अपना ही है। कोई पुराना आत्मीय है।

रूम में चली आई। लोपचू घाटी की चाय की भाप मन में भर गई। लड़के ने नरम स्वर में पूछा—'गरम पानी चाहिए?' 'हां' कह दी। फिर पूछा—'तुम्हारा नाम?'

'गोपी! गोपी बहादुर थापर'।

'कब के काम कर रहे हो?'

'तीन बरस से।'

फिर गांव, घर, कितनी ही बातें पूछ डाली।

तीस्ता के किनारे-किनारे। पहाड़ी ढाल पर एक छोटा-सा गांव—लानका। वहीं है गोपी का घर। मंगर है। अंग्रेजों के जमाने में मंगर लोगों की सेना में प्रमुखता थी। बहादुर जाति।

पिता धनबहादुर बंगलादेश की लड़ाई में घायल होकर लौटे। पेट का घाव सूखा नहीं। मवाद भर गई। आठ वर्ष पहले चल बसे। उनके पीछे मां भी? बड़ी बहन का विवाह कर दिया। वे पति-पत्नी दोनों एक होटल में काम करते हैं। दुख-सुख में संसार गुजर जाता है। मतलब गोपी अनाथ है। पूछा—'जब काम न हो, मेरे कमरे में आना। हम गपशप करेंगे। गांव की बताना। गीत सुनाना। साथ बाजार चलेंगे। कुछ चीजें खरीदवा देना।'

नेपालियों की साहसिकता दुनिया में प्रसिद्ध है। कलिंपोंग के तिराहे पर वीर गोरखा नोरर, लामा, हानजीत, सूवा और नरेषु सेरिंग ने लद्दाख सीमा पर भारत के लिए प्राणों की बलि दी थी। उन सब के स्मृति स्तंभ हैं। गोपी को देख उस के वीर पिता को मन ही मन प्रणाम किया।

दिनभर का कार्यक्रम पूरा करने के बाद फिर एकाकीपन फैल जाता है। खोजती रही उड़िया चेहरा—कहीं कोई। 'हमारी जानकारी में कोई नहीं। होगा भी तो कोई एक आध ...।' सबका एक ही उत्तर होता।

सड़क के किनारे धोती-कमीज पहने कोई मुड़ी बेच रहा था। उत्सुक मन। पूछ लिया—'उड़िया हो?' उसने कहा—'जी नहीं, बंगाली हूं। 'कोई उड़िया भी होगा?' लाचारी में पूछ डाला। वह हंसा—'सो तो नहीं पर आप हैं उड़िया?' निराश होकर लौट आई। कोई परिचित न हो, अपना न हो तो कैसे कटेंगे इतने दिन? गोपी मेरी प्रतीक्षा में था। आते ही चाय ले आया। पूछा—'खाने की व्यवस्था कैसी है?'

'जी, यहां सिर्फ रहने को है। आप कहेंगी तो रीता दीदी को कहकर आप की खातिर लंच बनवा दूंगा।'

रीता है मालिक की बेटी। बी.एस.सी. पास। बी.एड. कर रही है। परीक्षा फल आना है। काउंटर पर बैठती है—किचन में चाय वगैरह बनाकर लॉज में रहने वालों को देती है। बाजार पर एक और होटल चलाती है उसकी मां। यहां होटल, लॉज, हाट, बाजार में पति-पत्नी दोनों काम करते हैं। ज्यादा तो औरतें ही काम करती हैं। पुरुष यानी खेत में या फिर युद्ध के मैदान में ही मिलेंगे।

गोपी को देख पूछा—'किसी के लिए नहीं तो फिर मेरे लिए खाना क्यों?' गोपी कुछ लजा गया। मुंह दाहिनी ओर करके बोला—'कोई बात नहीं। हमारे लिए भी तो भोजन बनता है।' आकर्षण मेरा गोपी की ओर था या फिर गोपी का मेरी ओर, देर तक उसकी ओर देखती ही रही।

दार्जिलिंग से कलिंपोंग आते समय रास्ते में सिलिगुड़ी के सिंहाबाई ने बताया था—'कलिंगपोंग जा रही हैं। शहर छोटा है, पर साफ सुरक्षित है। वहां के लोग सच्चे हैं, स्नेहिल और मिलनसार। डरने का कुछ भी नहीं। दो दिन में ही अपना बन जाएगा। लॉज से निकल बाईं ओर मालदोड़ बढ़ी। आगे तक चला गया है काफी दूर। दाहिनी ओर थाक के थाक घर। पहाड़ की गोद में। बाईं ओर ढलान में छोटी बस्ती। तीस्ता की घाटी के उस पार नीले-सुनहले पहाड़ और बेशुमार मेघ। प्रकृति के इस सौंदर्य में मन का सारा मैल, संदेह, भय सब धुल जाता है। ढलान पर सांझ उतर रही है। आगे बढ़ूं या नहीं?

घर लौटते लोगों की लंबी कतार। सब के चेहरे पर मुस्कान। मेरी ओर उत्सुकता से देख रहे हैं। पता है—विदेशी मेहमान है कोई। न जा रही, न लौट रही, दुविधा में इधर-उधर देख रही थी।

कोई अधेड़ रुक गया। 'गांव जाना है? चलिये, डर की कोई बात नहीं। हम नेपाली हैं। मिहनत करते हैं, चोरी-डकैती नहीं। आप इधर की नहीं हैं। मैंने संकोच में कहा—'हां, कल से हूं। भूनाल लॉज में हूं। दस-बारह दिन का काम है।' उसने कहा—'तब तो रोज भेंट होगी। मैं वहीं नीचे मिस्त्री का काम करता हूं। कल छुट्टी है। परसों छत पड़ेगी। मेरा नाम है रमेश गिरि। हमारे गांव चलेंगी? पास है—छोटा भालूरखोह। सुनिये मेरी घरवाली चिल्ला रही है।'

'वह चिल्ला रही है, क्यों?' मैंने पूछा।

उसने बताया, 'वह बुरी नहीं। न कलहकारी है। बच्चे शैतानी कर रहे होंगे। आने दें, देखना कितनी भली है।' मैंने कहा—'सांझ हो गई। कल आऊंगी गांव।' 'ठीक है'। यह रास्ते का फाटक। उसके नीचे सीढ़ियां चली गई हैं। वहीं बैठा मिलूंगा। आगे आकर देख लें, आग, चिता की आग है। यहीं मुर्दे जलते हैं। शायद कोई मरा है। मैं वहीं मिलूंगा। ठीक आठ बजे। मेरे रहते कोई क्या कहेगा? हंसते हुए वह पहाड़ी राह पर आगे बढ़ गया। सोचा—'पागल है, या पी गया है। पीछे से पूछा—यहां कोई उड़िया है?'

हाथ हिलाकर मना किया—'मेरे रहते इतनी खोज क्यों? हम नेपाली बात के धनी हैं।' हंस पड़ी मन ही मन—मुड़ गई लॉज की ओर सामने से दुबला-सा कोई गांव लौट

रहा था। हाथ में लाल-पीला रंग लगा है। पान चबाता पीक फेंक रहा था। कुछ रुक गया। पूछा—'गांव गई थीं? मैं भी लॉज के नीचे रंग का ही काम करता हूं। आप को देखा था लॉज में।'

बच्चे के पास आकर उसके गांव और बस्ती की बात पूछी। किसी अच्छे गाइड की तरह दाहिना हाथ उठाकर दिखाने लगा—'ऊपर सर्जिकल अस्पताल है। धनीधारा गांव। सबसे ऊपर कुष्ठाश्रम है। कुष्ठ रोगियों के लिए मंदिर है। और ठाकुर जी की फोटो है। आप वहां जरूर आना, सब आते हैं।' बाईं ओर हाथ उठाकर कहा—'वो तीस्ता है। ऊपर है पुल। इधर मल्ली बाजार। उस पार सिक्किम। इधर है इंडिया। देखा नीली घाटी में हंसी की तरह चली गई तीस्ता नदी। उस पर पतली कमर सा दिखता है पुल।' हंसकर पूछा—'सिक्किम क्या इंडिया नहीं है?' बच्चे ने सिर हिलाकर कहा—'ना ... ना ... सिक्किम तो सिक्किम है। कलिंपोंग इंडिया है। पुल के इस ओर इंडिया है, उस पार है सिक्किम।'

हंसकर समझाया—'सिक्किम भी इंडिया है।' लेकिन वह समझने को तैयार ही नहीं। चार-पांच लोगों को बुलाकर मुकाबला कराता है—'कि सिक्किम इंडिया है या नहीं। सब का एक ही कहना है—पुल के उस पार सिक्किम, इस पार है इंडिया।'

कितना भी समझाती हूं। अर्से की बद्धमूल धारण दूर नहीं होती। बच्चे ने कहा—'हमारे गांव चलोगी? कल प्रतीक्षा करूंगा। मल्ली पुल होते हुए सिक्किम चलेंगे। पहाड़ी रास्ते दो किलोमीटर। गाड़ी से चलने पर अठारह किलोमीटर। कहें तो मैं चलूं साथ। कल काम नहीं है—पहाड़ी राह पर पैदल ही चलेंगे। मैं रहा तो कोई डर नहीं।'

पूछा—'तुम नेपाली हो?'—ना ... ना ... बंगाली मुसलमान हूं। इससे क्या फर्क पड़ता है?' उसने बड़े लोगों की तरह निर्भय कर दिया।

मैंने अचकचाकर कहा—'ऐसी बात नहीं है। कल कुछ काम है। अच्छा, वहां कोई उड़िया है?' 'उड़िया?' उसने भौंहें सिकोड़कर कहा—'ना, ना, किसी को मैं तो नहीं जानता। बंगाली तो काफी हैं ... आसामी भी ...' पीछे मुड़ा। वह पीक थूकता—उछलता हुआ नीचे उतर गया। रात देर तक बच्चे की आत्मीयता मोहित किये रही।

सुबह गोपी की बनायी चाय पीकर कुष्ठाश्रम और सर्वधर्म मंदिर की ओर चल पड़ी। आकाश के मेघ यहां धरती पर बेलगाम विचरते हैं। मेघों की परवाह नहीं की जाती। पहाड़ पर ऊपर और ऊपर चढ़ती गई। बाईं ओर चर्च, दाईं ओर है सर्जिकल अस्पताल, उसके ऊपर टी.बी. अस्पताल। सबसे ऊपर है कुष्ठाश्रम। मानों पृथ्वी से छिन गया है यह राज्य। साफ, सुथरा परिवेश। नीचे-ऊपर थाक में बने घर। कुष्ठ रोगियों का इलाज। साथ में कुछ काम भी सीखते हैं। कुछ लोग पहाड़ की तलहटी में बस्ती में रहकर परिवार बना चुके हैं। कुष्ठाश्रम की जरूरत के मुताबिक कपड़े, गरम पोशाक, वगैरह वे ही बनाते हैं। मुर्गी, बकरी पालते हैं। सबसे ऊपर है सर्वधर्म प्रार्थना महल और पूजा मंदिर। मंदिर में सर्वधर्मों की प्रतीक की फोटो कतार में रखी हैं। जो जैसा चाहे, वैसे ही पूजा करता है।

आदमी एक जात है—क्यों रोग सबको होता है। यही है इस कुष्ठाश्रम का सिद्धांत।

शायद कुष्ठाश्रम के व्यू पायंट से सारा शहर और सिक्किम राज्य का सबसे मनोरम दृश्य दिखता है—विकलांग शरीर में अटूट मन का सौंदर्य झलकता है यह स्पष्ट हो गया है, प्रकृति के इंगित से।

देह भरी हैं घाव से, मवाद, रक्त ...। आंखों पर पीला गीड़, फीके चेहरे, विकृत मुंह किए कुछ अस्पताल के वार्ड में थे। जो अधिक ही बीमार थे, उन्हें रखा जाता है वार्ड में। उसके कदम थम गये। हंसते हुए किसी ने पूछा—बाहर से आये हैं?' 'हां'—

'मंदिर देखा?'

'मंदिर में ताला है। खिड़की से दिखता है। ठाकुरजी के दर्शन हो गये।'

'ठहरिए, देखें, चाबी किसके पास है? खोल दें, दर्शन अच्छी तरह होंगे। पृथ्वी के हर ठाकुर जी यहां विराजमान हैं। सारे तीर्थ हैं।' अनायास ही हंसी में कह उठा।

पूछा—'आप बंगाली हैं?'—'नहीं, बिहारी। बचपन से ही हूं। जितने रोगी हैं, सब एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं। सबके सब ठाकुर जी के आगे माथा झुकाते हैं। आदमी का खून एक है, आंख-अंग सब एक हैं। सब सारी बात साफ समझ में आ जाती है। धर्म, भाषा, राज्य को लेकर हमारी इस दुनिया में कभी भी झगड़ा नहीं होता। आप शाम को आएं-सर्वधर्म प्रार्थना सुन सकती हैं। सब समझ पायेंगी।'

उस आदमी के वीभत्स होठों से यह महान जीवन दर्शन सुन अवाक् रह गई। अचानक ही पूछा—'कोई उड़िया है यहां?'

'उड़िया तो कोई नहीं। मगर किसी के आने पर कोई रोक नहीं। सबकी जात एक है—'रोगी'। इसमें बाकी जात-पांत सब कुछ भुला दी जाती है। इसमें हमें कोई दिक्कत नहीं होती। हां, आप शाम की प्रार्थना में जरूर पधारें। यहीं प्रतीक्षा करूंगा।'

रोगी को विदा कर लौटी। चकित सोचती रही—कुष्ठाश्रम में यह मेरी प्रतीक्षा करेगा, मैं उड़िया क्यों खोजती रही? नहीं, इस शहर में कोई उड़िया नहीं। अगर कोई है तो उसका पता किसी को भी नहीं। निराश हो लॉज में आते ही आते सुना गोपी का गीत। काम करते-करते रसोई में ही गीत गा रहा है। कान लगाया—कोई नेपाली गीत है। बुलाकर उसे पूछा—उसका अर्थ कहने लगा—मैं नेपाली, मेरा सिर ऊंचा है। मेरे देश में राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी का जन्म। मेरा देश हिमालय की तरह ही ऊंचा है। पवित्र है। मेरे वन, नदी, पहाड़ कितने प्रिय हैं ... मेरा देश कंचनजंघा की तरह उजला है, पवित्र है ...। मुग्ध होकर सोचती ही रही इस नेपाली गीत को कोई भी गा सकता है अपना कह सकता है।

गोपी खाना बना रहा था। मेरे लिए। गरम पानी, चाय, नाश्ता, सब कुछ समयानुसार दे रहा था। कहना सुनना, बाजार से सामान, चिट्ठी पत्री पोस्ट करना आदि सब काम आग्रह से करता। मुझे देख उसका चेहरा मुस्कान से भर जाता, या उसका चेहरा देख मेरा मन मुस्करा उठता, पता नहीं चलता परंतु इतना लगता है—इससे मेरा जन्म जन्मांतर का कोई अदृश्य संबंध है।

उस दिन सुना—मेरे काम में अधिक समय देता है, अतः मालिक नाराज हो रहा

था गोपी पर। मैं ही जिम्मेदार हूं इसके लिए। पर मैंने तो गोपी को काम करने नहीं कहा। सुबह बेड टी देते समय दोनों आंखें फूली-फूली लग रही थीं। मेघ भरे आकाश की तरह जलकणों से भरपूर। आर्द्र स्वर में कहा—'गोपी, मैं तुम्हें बहुत ही परेशान कर रही हूं। ज्यादा नहीं, बस दो दिन की बात और है।'

गोपी की आंखें गीली होने जा रही थीं, कि ऊपर से मालिक ने आवाज दी—'गोपी, ... देर क्यों हो रही है?' बात दरअसल यह थी कि एक कष्ट को इतना टाइम देने लगा तो इतने बड़े लॉज का काम कैसे चलेगा? गोपी को लेकर दिनभर मन में बेचैनी रही। बेचारा रात में कुछ घंटे ही पाता है सोने के लिए। दिन भर तो मन लगाकर मेहनत करता है। हर रात एक-एक अक्षर सजा कर वह अपनी दीदी को खत लिखता। एक-दो पंक्ति लिखी होगी कि ऊपर से आवाज आ जाती है। गोपी का खत लिखना पूरा नहीं हो पाता, जीवन संग्राम जारी रहता। कल लौटना है। मेरा अपना यहां कोई नहीं। यहां एक भी उड़िया से भेंट नहीं हुई इतने दिन में। फिर भी विदा की बात सोचकर मन क्यों उदास हो जाता है?

सुबह-सुबह अजीब घटना घट गई! गोपी ने आकर बताया—गिरि तीन दिन से मशान के पास बैठा है। काम पर भी नहीं आया। मशान के पास उसका छोटा सा घर है। मुट्ठी भर कुछ खाकर फिर आ बैठता है। पूछो तो कहता है—'बंधु को जवाब दिया है। वे आयेंगे। हमारे गांव घूमेंगे। मैं यहां प्रतीक्षा न करुं तो वे क्या सोचेंगे? विदेशी आदमी मुश्किल में पड़ेंगे।' अचानक समझ नहीं पाई कौन है यह गिरि? बाद में याद आया। तीन दिन पहले की भालूखोह गांव के छोटे छोर पर हुई वह बात। तब उसे वादा किया था कि सुबह अगले दिन तुम्हारे गांव आऊंगी। जा न सकी, भूल गई उसकी बात।

सोच रही थी वह आदमी या तो पागल है या फिर मद्यप। अब भी सोच रही हूं कि वह सामान्य नहीं है। उसे वादा देकर नहीं गई, सो तो ठीक न लगा। मगर अब तो समय भी न था। अपने काम से निकलना होगा। गोपी से कहा—'शाम को चलेंगे उसके गांव। मुझे क्या पता कि वह सचमुच ही मेरी प्रतीक्षा करता होगा ...। अच्छा उसका दिमाग कुछ ... ?

गोपी ने बीच में बात काटी—'गिरि का दिमाग तो ठीक है जी! बस, जो समझा, वही। अतः कुछ लोग उसे पागल भी समझ सकते हैं। तीन दिन हुए काम पर नहीं आया, घर पर खाने को नहीं, बैठा है तो बैठा है।' लगा अपराधी तो मैं हूं। पर करूं क्या? बात कह कर रखनी पड़ती है। यह अनुभव आजकल नहीं होता। अतः गिरि की बात का खास मतलब न था।

यहां के लोग यों बात को गांठ बांधकर रहेंगे तो बड़ी ही मुश्किल। अब शायद मल्ली बाजार के पुल पर वह मुसलमान लड़का बैठा होगा सिक्किम की ओर राह देखने के लिए। पांच हजार फुट पहाड़ पर कुष्ठ रोगी सर्वधर्म प्रार्थना के समय प्रतीक्षा करेगा। तो मैं क्या करूं? मुझे तो लगता है आगे बढ़कर मदद करने की इनकी गंदी आदत पड़ गई है। दिनभर अच्छा नहीं लगा। समझ में ही नहीं आया कि मुझे इतनी सहजता से अपना

क्यों लेते हैं ये लोग? मुझमें तो वैसी कोई विशेष योग्यता भी नहीं।

अपराह्न में देखा गोपी गरम-गरम परांठे बना रहा है। बेवक्त का काम देखकर पूछा—'इस वक्त ये क्या हो रहा है?' लजाकर हंस पड़ा—'आज आपका सोमवार है। कुछ खाया न होगा। सोचा घी के परांठे और भाजी बना दूं। जीवन में पहली बार परांठे बना रहा हूं। पता नहीं कैसे होंगे।'

अनायास ही आंखें गीली हो गईं। कंठरोध हो गया एक अव्यक्त आवेग में। पता नहीं यह अनाथ लड़का किस जन्म में मेरा क्या लगता था। पर इस जन्म में मेरा लड़का नहीं तो और क्या है! मन करता कि उसे उठाकर गोद में ले लूं। मगर मेरी शिक्षा, सभ्यता, लौकिकता मुझे रोकती रही।

परांठे एवं भाजी खाये, गोपी की पीठ ठोंकी। कहा—'चल, गिरि के पास चलें।' गोपी ने मुंह लटकाकर कहा—'गिरि अस्पताल में है। कल बरसा में भींगा। उसका शरीर तवे-सा तप रहा है। मैं गया था यह कहने कि आप शाम को जायेंगी। पता चला कि गिरि को वात हो गया। एक ओर से तो उसे वात था। कभी-कभी वह बेहोश हो जाता। दस-बीस दिन रहता अस्पताल में। अब वह शायद किसी आदमी को पहचान ही न पाये।

मैं तो जड़ सी रह गई। मन बोझिल हो गया। मन बदलने पैदल ही चल पड़ी। बाजार की ओर आ गई। अनमने कदम अपने आप मुड़ गए मसजिद की ओर जाने वाली गली में। बाईं ओर के आकाश में ऊंचे मंदिर का शिखर दिख रहा था। कोई छोटी बच्ची जा रही थी। पूछा—'यह मंदिर किसका है!'

'भगवान का मंदिर है!'

'कौन देवता हैं?'

'हर देवता हैं!'

'मंदिर का नाम तो होगा कुछ?'

'वैसे तो नाम नहीं जानती, पर ठाकुर बाड़ी कहते हैं'।

'ठाकुरबाड़ी' की ओर आगे बढ़ गई। सोचा मंदिर का पुजारी जरूर किसी उड़िया की खोज-खबर दे सकेगा। अगर कोई उड़िया रहता होगा, जरूर मंदिर तो आता ही होगा। कल विदा से पहले बंधु दर्शन हो जायेंगे।

पूर्वाभिमुखी मंदिर के परकोटे में प्रवेश करते न करते ही सामने देख मैं तो पथरा गई। पता नहीं कब तक सिंहासनारूढ़ वह मूर्ति देखती रही। होश ही न रहा। पुजारी की आवाज से मैं सचेत हुई। मेरे हाथों पर चरणामृत देते हुए कहने लगा—'जगन्नाथ स्वामी जनयनपथ गामी भवतुमे। ये हैं जगन्नाथजी, बलभद्रजी और सुभद्राजी।'

मेरी विमूढ़ दशा देख उसने सोचा कि मैं इन विग्रहों को पहचान नहीं पा रही। प्रणाम कर सीढ़ियों पर बैठ गई। पूछा—'जगन्नाथजी की प्रतिष्ठा यहां किसी उड़िया ने की है?'

भौंहे सिकोड़कर पूछा—'क्यों? उड़िया न हो तो क्या जगन्नाथ जी स्थापित नहीं होगें? आपके कहने का मतलब?'

मैं अचकचा गई। 'नहीं, नहीं बात ऐसी नहीं, जगन्नाथ जी तो उड़ीसा के हैं, अतः सोचा उड़ीसा के किसी भक्त ने जगन्नाथ की यहां प्रतिष्ठा की है।'

पुजारी ने बीच में ही कहा—'अरे! जगम्नाथ जी तो जगत के नाथ हैं। उनका भक्त होने के लिए उड़िया, बंगाली, तेलुगु, नेपाली, लेपचा, भूटिया का कोई बंधन नहीं। यह मंदिर सौ साल पुराना है। पहले सत्यनारायण जी की प्रतिष्ठा की गई। जगन्नाथ जी की स्थापना को अस्सी वर्ष हो गए। तब से पूजा चल ही रही है। हर वर्ष रथ यात्रा होती है ... कलिंपोंग के मुख्य बाजार में रथ खींचा जाता है—नेपाली, तिब्बती, लेपचा, भूटिया, बंगाली, मारवाड़ी सब शामिल होते हैं ...'

'और उड़िया?' अचानक ही पूछ बैठी।

विस्मय से भरे पुजारी ने शांत भाव से कहा—'कोई होंगे, पर हमें उनका पता नहीं।' विस्मित भाव से तीनों संगमरमर की मूर्तियों को देखती रही। अस्सी वर्ष से जगन्नाथ जी यहां हैं, रथयात्रा होती है। जब कि कोई उड़िया यहां नहीं है। यह क्या कभी संभव है?

पुजारी जी ने पूछा—'आप कहां से पधारी हैं? शायद नयी ...'

नम्र स्वर में कहा—'जी, मैं ओड़िशा से हूं, एक काम था। दस दिन से मुनाल लॉज में रह रही हूं।'

पुजारी ने गदगद स्वर में कहा—'अहो, आप जगन्नाथ क्षेत्र से पधारी हैं। पहले से क्यों नहीं बताया। ठहरें, जगन्नाथ जी का प्रसाद लाता हूं ... ऊपर भंडार में जाकर पुजारी प्रसाद ले आये। मेरे पास मनिपर्स न था। खाली यों ही निकल पड़ी थी। संकोच में कहा—'पास में पैसे नहीं। मंदिर की बात ध्यान में न थी। कल दक्षिणा ... '।

'अरे वाह! क्या कहती हैं। दक्षिणा से क्या होता है? आपकी श्रद्धा ही बड़ी दक्षिणा है।' व्यवहार की बात।

मंत्रमुग्ध सोचती रही पुरी के पंडों की बात। विदेशी तीर्थयात्रियों प्रति उनके व्यवहार की बात। उत्सुक होकर पूछा—'यहां जगन्नाथ प्रतिष्ठा का इतिहास कुछ बता पायेंगे?' पुजारी ने कहा—'थोड़ा बहुत जानता हूं। नेपाल नरेश के राजपुरोहित थे जगन्नाथ जी के परम भक्त। उनका नाम किसी को पता नहीं। उनका उदर पृथुल था, अतः लोग उन्हें भुंडिया बाबा कहते थे। नेपाली में भुंडिया का अर्थ उदर है। उनकी सेवा का भार था हरियाना हरिनारायण पर। भुंडिया बाबा की सेवा करते-करते हरिनारायण जी हो गये जगन्नाथ के भक्त। भुंडिया बाबा के बाद अपनी सेवा के फलस्वरूप जगन्नाथ के तीनों विग्रह उन्हें मिले। बाद में वे कलिंपोंग के निवासी बन गये। घूम-घूमकर भिक्षा मांगे। मंदिर के लिए एक-एक पैसा लिया। तभी इसे एक पैसा मंदिर कहते हैं। अब हरिनारायण के बेटे पोते देख रेख करते हैं।

'मंदिर कौन चलाता है?'

'जगन्नाथ जी स्वयं। भगवान का मंदिर, आदमी कैसे चलायेगा?'

घूम घूमकर मंदिर देखा। पूर्व की ओर मुंह किए श्वेत मूर्ति बलभद्र, सुभद्रा जी,

कृष्ण संगमरमर की मूर्ति जगन्नाथ की। दोनों ओर देवी मूर्ति है। सामने हरहर महादेव जी। बाईं ओर कृष्ण, दुर्गा, लक्ष्मी, नारायण, राम, सीता, हनुमानजी के विग्रह। पुजारी ने बड़े आग्रह में कहा—'कल आप जगन्नाथ जी का महाप्रसाद ग्रहण करें दुपहर में। इतने दिन पर जगन्नाथ क्षेत्र से कोई आया है, बिना महाप्रसाद लिये न लौट जाएं। हां, बीच-बीच में आते रहें।'

म्लान स्वर में कहा—'महाप्रसाद पाने का योग नहीं। कल सुबह ही लौट जाना होगा। दस दिन गली गली ढूंढ़ती रही, कोई भी उड़िया न मिला। निराश हो गई थी। पता ही न था कि दो कदम पर उड़िया के इतने बड़े बंधु .. सखा ... खांटी उड़िया आसन लगाये विराजमान हैं। मंदिर का शिखर तो पहले ही दिन से देखा है। पर यह पता न था कि जगन्नाथ जी हैं ...'

पुजारी मुस्कराकर कहने लगे—'आप उड़िया खोज रही थीं, जगन्नाथ कैसे मिले। आदमी की खोज करें तब जगन्नाथ मिलेंगे—जगन्नाथ केवल उड़िया नहीं, न वे सिर्फ उड़िया बंधु हैं। वे सब जाति, धर्म, वर्ग बंधु हैं। इस शहर में उड़िया नहीं मिले, कोई कठिनाई हुई? कृपाकर जगन्नाथ जी को उड़िया कहकर उनकी महिमा न्यून न करें।'

मौन रहकर सोचती ही रही—'गोपी थापा, रमेश गिरि, वह मुसलमान लड़का, कुष्ठाश्रम का वह रोगी ... कोई उड़िया नहीं। मेरे वे कुछ भी नहीं होते, मेरा कोई संपर्क नहीं, पर क्या कह सकती हूं कि कोई रिश्ता नहीं? एक आदमी दूसरे आदमी को देखता है तो अदृश्य संपर्क स्वतः स्थापित हो जाता है। इस बात पर कोई दो मत न होगा पर गोपी को छोड़ जाने की वेदना से क्यों बेचैनी हो रही है?

रमेश गिरि की अस्वस्थता, उस कुष्ठरोगी की पीड़ा, उस मुसलमान छोकरे का सरल स्नेह, मुझे क्यों इतना आलोड़ित कर रहा है?

आखिरी बार तीनों विग्रहों को प्रणाम किया। जी भर देखा। मुझे लगा उन में गोपी, गिरि, रोगी, मुसलमान बच्चे और कई-कई चेहरे आदमियों के धुंधले से चित्र खिल रहे हैं—एक अजीब आवेग मन के आकाश में तैरते मेघ की तरह आर्द्र कर उर्ध्वमुखी बना रहा है। □

---

***मूल ओड़िया से डॉ. शंकरलाल पुरोहित द्वारा अनूदित***

---

*प्रतिभा राय : प्रख्यात ओड़िया कथाकार। अठारह उपन्यास, सोलह कहानी संग्रहों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर कई पुस्तकें। बोंडा आदिवासी जन जातियों पर विशेष कार्य। संपर्क : आख्यायिका, तुलसीपुर, कटक (ओड़िशा)*

---

*डॉ. शंकरलाल पुरोहित : विद्वान लेखक और साहित्यकार। ओड़िया भाषा और हिंदी का तुलनात्मक अध्ययन। कई साहित्यिक संस्थाओं से संबद्ध। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। संपर्क : डी-35 बी.जी.बी. फ्लैट, भुवनेश्वर, ओड़िशा।*

## ललित निबंध

# प्रेमतरु है देवदारु

डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत

भारतीय वृक्षसंहिता का नायकोपम व्यक्तित्व देवदारु, वैदिक साहित्य के ब्राह्मणग्रंथों जैसा, कुलीन, आरण्यकों-जैसा चिंतनशील, उपनिषदों-जैसा सुसंस्कृत तथा महाकाव्यों जैसा विशाल है। सृष्टि के संपूर्ण वागर्थ का विश्वकोष यह पत्ती-पत्ती कवितामय तथा रेशा-रेशा विचारपूर्ण है। देवदारु को देखते ही मेरा मन कल्पना के आकाश का विहग हो उठता है। पता नहीं क्यों मुझे इसमें आदिकाव्य की-सी करुणा और वीरता, भक्ति काव्य की-सी लोक संपृक्ति और महाविश्वास, श्रृंगार काव्य की-सी स्वच्छंदता और मस्ती, राष्ट्रीय काव्य धारा की-सी वीरता एवं मातृभूमि प्रेम, द्विवेदी युग की-सी इतिवृत्तात्मकता, छायावाद की-सी सौंदर्य चेतना और आत्मोत्थान की प्रगतिशीलता के एक-साथ दर्शन होते हैं। इसके लोकातिक्रांत विग्रह के आगे मैं नतग्रीव एवं नतजानु हूं। सोचता हूं महायोनि परमाप्रकृति के पुण्योदय का फल है यह, या परमेश के परमसारवान् बीज का सुपरिणाम? स्रष्टा जब पूरे मनोयोग से रचता है तब किसी भी तरु को देवतरु बना देता है। वृक्षों में यह सौभाग्य देवदारु को हासिल है। देवदारु देव भी है और दारु भी—

*देवोऽपि यः तरुश्चापि देवदारुः महातरुः ।*

मेरा विश्वास है कि सृष्टि के आरंभ में आदिपुरुष मनु ने जिस वृक्ष के सहारे अपनी पर्णकुटी बनाई थी वह वृक्ष देवदारु ही रहा होगा। चारों ओर का जायज़ा लेकर, सब की परख-पहचान के बाद जो अधिकतम विश्वसनीय, आत्मीय और पुरज़ोर गोप्तातरु दिखा वह यह देवतरु ही था। प्रलय की बेला में सबके डूब जाने पर भी अपनी अपराजेय जीवनी शक्ति से बलवती उत्तालतरंगों को परे धकेलता, हिमालय का 'उच्चैरुदातः' यह विपत्ति में भी धैर्यवान और तूफान में भी स्थिर रह सकने में समर्थ है। सृष्टि के पहले स्मृतिकार मानववंश के आदिपुरुष को जिस तरु ने आश्वासन आसन तथा आश्रय दिया वह स्तुत्य है।

*मानवजाति के प्रथम परमोपकारक हे महातरु।*
*तुम पर सारे कविधर्मा रचनाकारों की समस्त रचनाएं न्यौछावर।*
*सारे स्वस्तिवाचनों की अशेष पोथियां तुम्हें समर्पित।*
*समस्त प्रार्थनाशील मनों की समग्र आरतियां तुम्हें अर्पितं।*

ऋग्वेद का पुरुषसूक्त कहता है—

*सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रप्रात्।*
*य भूमिं विश्वतो वृत्वात्यष्ठिद् दशागुङ्लम्।।*

यदि हम इस मंत्र का अर्थ दशांगुल आत्मस्वरूप पुरुष के अतिरिक्त, यह भी कर लें कि हजारों सिरों वाला, वृक्षों में पूर्णाकार, हजार आंखों वाला, हजार पैरों वाला, भूमि को चारों ओर से घेर कर, दसों-इंद्रियों-समेत यह लोकातिक्रांत व्यक्तित्व है, तो भी क्या हानि है? क्या वन के हजारों क्षुद्र गाछपादप मिलकर भी; अपने हजारों सिर जोड़कर भी देवदारु के सिर की उच्चता को प्राप्त कर सकते हैं? अथवा इसकी हजारों ऊर्ध्व शाखाएं क्या इसके हजार सिर नहीं हैं? क्या इसकी सहस्रसंख्यक पत्तियां इसकी हजार-हजार आंखें नहीं हैं? क्या कोई इतनी कठोर धरा पर बिना हजार पैरों के खड़ा हो सकता है? नहीं। यह सामर्थ्य केवल देवदारु में ही है। शाबाश देवदारु! तुमने अपने कर्म से जाति को नगण्य कर दिया। अपने खानदान की ध्वजा फहरा दी। अपनी बिरादरी की नाक ऊंची कर दी और पगड़ी, पूरे डेढ़ हजार फुट ऊंची।

देवदारु आकार में विशाल, प्रकार में चीड़-कैल वंशीय भव्यता में आकर्षक, वर्ण में धूसर, तथा विकास में आकाश को ललकारता-सा सदा उन्नतिशील है। वन के सारे लता-पादपों का महाधिवक्ता, समग्रवनलोक का लोकपाल और समस्त महारण्य का यशस्वी-सपूत यह हिमाचल की उच्च धरा पर किसी साधक-सा अवस्थित है। ग्रीष्म में किसी तपस्वी द्वारा पंचाग्नि ताप की तरह यह नवम्बर से मार्च तक पंचहिमशीत सह कर स्वयं को सिद्ध-साधकों की समकक्षता में स्थापित कर लेता है। कहा भी तो गया है कि क्लेश सहकर जो सिद्धि प्रसिद्धि फल मिलता है उससे पिछला सारा श्रम भूल जाता है—

*क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।*

कालिदास कहते हैं कि महादेव ने तप की महासमाधि इसी देवदारु के नीचे लगाई थी। पता नहीं, शिव इससे क्या पाना चाहते थे परंतु इंद्र को उनके तप से खतरा जरूर हो गया था। उसने संसार के सारे मनों को अभिभूत करने वाले कामदेव को वसंत की सहायता से धूर्जटी का तप भंग करने को भेजा। कामदेव इंद्र के आदेश से नतग्रीव हो, आ तो गया वहां, परंतु त्रिपुरारी के क्रोधानल में भस्मीभूत हो, जान-से हाथ धो बैठा। आखिर दूसरों के बहकावे पर आप कब तक सत् और ऋत् के यज्ञों में विघ्न पैदा करते रहेंगे? एक दिन कोई न कोई महादेव आप को भी तो...

इसी प्रसंग में एक बात मुझे और भी सूझ रही है कि हो-न-हो, देवदारु के नीचे तप करने से ही देव महादेव हुए हों और देव के सान्निध्य से साधारण यह तरु, देवतरु। फिर यह जो कहा गया है कि *"सतां सद्भिः संगः कथमपि पुण्येन भवति,"* वह, ऐसे संदर्भों में ही संगत है। सज्जनों का सज्जनों से संग दुर्लभ है। और यदि, कभी ऐसा सुयोग जुट जाए तो इसे देवों का देवों से संयोग जैसा जानना चाहिए।

इस समय, जहां मैं रह रहा हूं वहां देवदारु ही देवदारु हैं, छोटे-बड़े देवदारु ऊंचे-नीचे

देवदारु, बिटवा-बचवा देवदारु, ललछौंहे-जरठ देवदारु, गरबीले विनम्र देवदारु, साधु-तिकड़मी देवदारु, कुछ जटा-मूंछ वाले, कुछ कटी शाख वाले, कुछ सत्य की सिधाई-से, कुछ मन की ऊंचाई से, कुछ धर्म की व्यापकता से, कुछ अधर्म के अड़ंगे-से भांति-भांति के देवदारु हैं। विधाता की रचना है न, अतः उसके कई रंग हैं। कुछ ब्याह के बारातियों-से झूम रहे हैं, कुछ लताओं को चूम रहे हैं, कुछ पालना झुला रहे हैं, कुछ 'गंगी' गा रहे हैं, कुछ कलगी झुला रहे हैं, कुछ शाखा-मृगों से बतिया रहे हैं तो कुछ पर्यटकों को लुभा रहे हैं। इनकी आभा और शोभा इनकी क्रिया और प्रक्रिया, इनका रूप और श्रृंगार, इनका आचार और व्यवहार इनकी विभुता और चरित्र सब, अनेकानेक अर्थछटाओं से लदे पड़े हैं। पर मैं उन सब के उद्घाटन में असमर्थ हूं। ये देवदारु यदि महाकवि बाण को शाल्मली की जगह मिल गए होते, तो कादंबरी में कई नवीन प्रसंगों का उदय हो गया होता। ये ही देवदारु यदि विश्वकवि कालिदास जैसे किसी समर्थ कवि को भा जाते तो पूरे एक देवदारु-महाकाव्य का जन्म हो जाता। पर मैं कल्पना और वाणी दोनों से दरिद्र, केवल मसिव्ययक, देवदारु जैसे आदर्श और यथार्थ का क्या वर्णन कर सकता हूं? देवदारु की भव्यता उसकी प्रतिष्ठा में मेरा यह अकिंचन श्रम ऐसे ही है, जैसे कोई सर्व शक्तिमान को कहे कि तू महान है।

मेरे घर-द्वार के सन्निकट जो महाकाय देवदारु हैं कहीं उनसे भी चतुर्गुणा, गुणों और साधना में बढ़े हुए, इनके संगोत्री इसी प्रदेश के विभिन्न हिमस्थानों पर, कुछ पहाड़ी-प्रदेशों या विदेशों तक में 'एंज्वॉय' कर रहे हैं। देवदारु मौजी/मनमौजी दरख्त है। जो देवदारु मेरे यहां हैं वैसे कमी उन्हें भी कोई नहीं है। हिमाचल जैसा सुरम्य, पावन, प्रदूषण मुक्त जन्म स्थान जिनकी जन्मभूमि है, नीलाभ असंख्य तारांकित निरभ्र साभ्रगगन जिन्हें बढ़ने-खेलने को मिला है, सेव-से आरक्त गालों वाली अल्हड़ अक्षत लताकुमारियां जिन्हें सौंदर्यपान के लिए उपलब्ध हैं, श्यामला की उर्बरा विनीत मिट्टी जिनकी चरणरज है, स्वच्छ झरनों का दुग्धधवल शीतल जल, बारीक-से-बारीक छननी में छनी हुई निर्मल विरज वायु जिनके उपयोग के लिए सुलभ है, तथा एक पूरा संस्कारवान् सारस्वत परिवार, सुबह-शाम ऋचा गान में व्यस्त है उन्हें और क्या चाहिए? हां इससे ऊपर जो चाहिए वह जन्म कुण्डली में मेष के सूर्य, वृष के चंद्रमा, मकर के मंगल, षष्ठ-स्थानीय राहू, कर्क के बृहस्पति, तुला के शनि, कन्या के बुध, द्वादश भावस्थित केतु तथा मीन के शुक्र की सत्ता से ही संभव है। अब देवदारु की कुण्डली पता नहीं किस पौधे के पास है। पर मैं इसके ललाट, इसकी हस्तरेखाओं, इसके हाथों-पैरों की बनावट/आकार से इतना तो बता ही सकता हूं कि इसके जन्मांग में परम-ऐश्वर्यशाली, परमप्रतापी, परमभाग्यशाली कोई, महालक्ष्मी योग, कोई अनका-सुनका योग, कोई श्रीमान् योग अथवा कोई राज राजेश्वर चक्रवर्ती योग जरूर पड़ा है अन्यथा यही क्योंकर एक साधारण तरु से देवतरु, हो जाता? अपने-अपने भाग्य हैं। जो जैसी घड़ी में पैदा हुआ है, उसे वैसा ही समय देखने को मिलेगा। बीज से भिन्न तो फल नहीं होगा।

यदि आपको अप्रैल-मई के महीनों में देवदारु-वनों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो तो आप सब-के-सब को अपने-अपने देह संस्कार, कायाकल्प अथवा नई फल रचना में व्यस्त पाएंगे। देवदारु में फूल नहीं सीधे फल ही उठते हैं। यह वनस्पतियों में गिना जाता है। शायद ऐसे ही तरुओं के बारे में कहा गया है—*अपुष्पाः फलवन्तो द्रुमाः*। इन्हें तब सांस भरने की फुरसत नहीं होती। एक-एक डाली पर हजार-हजार सूईनुमा नवजात पत्तियां, आईब्रश की तरह छोटे-छोटे गुच्छों के रूप में उगी हुई नवीन पत्तियां देखते ही आप में अचीन्ही-अनंत-इच्छाओं के महातरुओं को जन्म दे देंगी। जी हां, ये पत्तियां ही बीजवपन का काम कर देंगी। देवबिरादरी देहयज्ञ द्वारा नहीं अपितु दर्श, स्पर्श एवं ध्यान द्वारा ही प्रजोत्पत्ति में समर्थ है। देवदारु, देवबिरादरी में से है। देवदारु की पत्तियां, पीपल के पत्तों की तरह डिस्को नहीं नाचती अपितु शुद्ध भारतीय शैली में शास्त्रीय नृत्य प्रस्तुत करती हैं।

इन दिनों ये अपनी पत्र संपत्ति/संतति की भावी चिंता से ग्रस्त, पावस के वारिधर को, आषाढ़ के पहले मेघ को, बुलाने के लिए मनसा-वाचा कर्मणा प्रार्थना निरत मिलेंगे। पूरे हिमाचल और हिमालय के देवदारु, कश्मीर से अलका तक के देवदारु, खाड़ी के मेघों के वक्त पर पहुंचने/बरसने की ताकीद में कातर-करुण मन से आरती गाते हुए लगेंगे। यदि समय पर वारिद नहीं आए तो अगस्त-सितंबर में, उनसे पीत-पराग कैसे झरेगा? सज्जनों-मित्रों-पर्यटकों को तिलक कैसे लगेगा? धरती पीतांबरा कैसे होगी? सारी मंगलवेला बीत जाएगी। फिर देवदारु पत्तियों को विश्लेषित कर, उनकी मादक भीनी गंध से, यक्षिणी के श्वास से स्पर्शित वायु को लेकर मेघ, रामगिरि पर कैसे पहुंचेगा? जहां यक्ष उसके आलिंगन के लिए अधीर है। इसलिए इन दिनों तो ये एक पांव, एक मन, एक चित्त, एक संकल्प, एक दिल, एक जान से केवल मेघ-मेघ रटते हैं। *मेघा, मेघा पानी दे।*

पर मेघ क्रूर नहीं है। वह अकरुण और निर्दय भी नहीं। वह समय पर आता है। इनकी सविनय पुकार के महाकर्षण से खिंचा; वायु के रथ पर सवार हो आता है और अरबों-खरबों मन पानी की गागरों से सबको सहस्रशीर्षा स्नान करा जाता है। इन्हें जटाओं से जड़ों तक नहला कर इनके रोम-रोम में अमृतोदक भर जाता है। सारी शुष्क धरा आर्द्र हो उठती है और सारे चराचर संतृप्त। सबका एक-एक स्वर एक-एक कण्ठ गा उठता है—

> *ॐ पयः पृथिव्यां पय औषधीषु पयो दिव्यंतरिक्षे पयोधा*
> *पयस्वतीः प्रदिशाः संतु मह्यम्।*

यह देवदारु ही है जो समूचे महारण्य के बीच निर्भय हो अलख जगाता है, सबके लिए दुआ करता है, सबकी खैर मांगता है। सज्जनों को अभयदान देता है। दुष्टों को डराता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के गांव में एक पंडित जी के पास किसी देवदारु की केवल एक लकड़ी थी। वे गायत्री मंत्र और उस लकड़ी के जोर से ताकतवर से ताकतवर जिन्न-भूत-प्रेतों को भगा देते थे। यह बात आचार्य ने स्वयं कही है अतः अविश्वास के योग्य नहीं है। पर मैं सोचता हूं जिस घर-गृहस्थी के पास देवदारुओं की पूरी-पूरी बटालियन

ही बस गई हो वहां कोई जादू-टोना, टूना-टोटका, लगी-लगाई, ओपरा या कोई भूत-प्रेत कैसे असर कर सकता है? जहाँ देवदारु देवदूतों की तरह स्वयं आकर रक्षक बन खड़े हो जाएं उनकी तो वे गंध से ही सब भाग जाएं। आपने देखा होगा जहां देवदारु तांत्रिकों/मांत्रिकों का डेरा रहता है वहां कोई अतृप्तात्मा नहीं चीखती, कोई ब्रह्मराक्षस नहीं भटकता, कोई चुड़ैल नहीं आती, कोई अधमसाणिया, पहाड़िया, नरसिंह या कोई डाकिनी-शाकिनी हुज्जत नहीं करते। सब सरल हो रहते हैं। उल्टे 'यस सर' की मुद्रा में हुक्म बजाते हैं। ये जानते हैं इस गुरु को 'वाचा' से क्रोध में यदि कोई मंत्र फुर गया तो सत्यानाश हो जाएगा। लेने के देने पड़ जाएंगे। हल्की-सी भी खुराफात करने पर ऐसे 'रद्दे' पड़ेंगे कि पूर्वज तक माफीनामा लिख देंगे।

पिछले दिनों मैं दिल्ली में था। वही महानगर की रात-दिन चीखती-चिल्लाती सड़कों के किनारे उगे/लगे पेड़-पौधों, लता-सुमनों को देखकर जी व्याकुल हो उठा। मुझे लगा कि किन्हीं पूरबले महापातकों की सजा ही भोग रहे हैं ये। धर्मराज ने इनका हिसाब-किताब कर दिया है। सारा दिन धूल-धुआं, कार्बन, पेट्रोल एवं कोयला खा-पी-पी कर बहुत से टी.बी. के मरीजों-से हो गए हैं। किसी को पीलिया हो गया है तो किसी को अधरंग। बदरंग तो सब हो ही गए हैं। चेहरे काले और चमड़ी स्याह पड़ गई है। किन्हीं-किन्हीं शरीरों पर तो श्वेत कुष्ठ के चकत्तों-से दाग हो गए हैं। सबकी आंखें लाल और श्वास भारी चल रही हैं। स्पांडिलाइटिस तो हरेक को हुआ पड़ा है। अकड़ी हुई तिरछी, टेढ़ी गर्दनों को देखकर लगता है दिल्ली में स्पांडिलाइटिस की बीमारी आदमियों में ही नहीं, पेड़-पौधों तक में घर कर गई है। राजधानी में रहकर भी *लिव एण्ड लेट लिव* का जाप कर रहे हैं ये!

उस रोज मैं ऐसे ही घूमता हुआ एक दरख्त के निकट हो लिया। मुझे लगा, यह हिमाचली हो सकता है। हिमाचली, हिमाचली को ताड़ जाता है। थोड़ा 'सुख-सांत आदि पूछने के उपरांत मैंने जाना कि करीब दो-पीढ़ी पहले उसके बुजुर्ग पहाड़ से यहां आए थे। वह बोला—यहां आकर वे निरंतर अपने देस अपनी-अपनी जननी जन्मभूमि को याद करते रहे हैं। उन्हें याद कर-करके उदास-उल्लसित होते रहे हैं। न जाने कब तक वे इन्हें अपने श्वासों, सपनों में ढोते रहे। और एक हम हैं कि ... और यह कहते-कहते वह भावविह्ल हो उठा। मुझे लगा इसकी आंखें बरस पड़ेंगी। मैंने उसे ढाढ़स बंधाया और कहा अब जहां रह रहे हो उसे ही अपनी जननी-जन्मभूमि मानो और इसके विकास, उन्नति के लिए अहर्निश प्रयत्न करो। यह सही है कि अपनी मिट्टी, अपने पूर्वजों के आशीर्वाद से अलग होने की पीड़ा पीढ़ियों तक सालती है पर देवदारु, नगरों, महानगरों, राजधानियों के चाकचिक्य में नहीं फंसा। वह अनेक आकर्षणों के बावजूद नीचे नहीं उतरा। हठी पर्वतपुत्र यह अपने सत् पर अडिग रहा। अच्छा ही हुआ। यदि यह भी किसी काफिले के साथ साथ हो लिया होता तो आज हाथ पर हाथ रखकर रोता। पर बनता कुछ नहीं। यहां रहकर उसने अपने कुल की आन बचाई है। नगरों में उतरे इसके अन्य जातीय बंधु नीचे-से-नीचे ही उतरते गए हैं पर यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी और-और ऊंचा चढ़ता हिमालय के गर्वोन्नत शिखरों पर जा

चढ़ा है। सच है, परिश्रम ही शिखर-विजय को सुनिश्चित करता है।

इधर कुछ लोग देवदारु को दियार भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसका सिडार नाम भी कुछ इसी किस्म का है। पर सच कहूं तो यह दियार अभिधान मुझे ऐसे ही लगता जैसे किसी ने देवदारु को गाली दे दी हो उसे अपमानित करने की हरकत की हो या बिना विचारे किसी का नाम रख दिया हो। पता नहीं लोग नामकरण भी कैसे करते हैं। कोई रूप रंग, गुण, वंश का ख्याल नहीं। कोई अक्ल, शक्ल-सूरत का विचार नहीं। बस पुकार दिया कुछ भी। माना कि नामकरण में लोक ही प्रमुख है पर अशोक का 'शोको' और विवेक का 'विक्की' क्या हुआ? अब किसे कौन समझाए कि नाम 'गडलिकाप्रवाह' में पुकारा गया निरर्थक संबोधन मात्र नहीं है परंतु यह एक सुनिश्चित संस्कार कर्म है। नामकरण के मामले में इस सभ्य लोक के बदले मुझे अरण्यवासी ज्यादा समझदार लगते हैं। इतने-इतने सुंदर नाम हैं कि सुनते ही मन ईर्ष्यालु हो उठता है।

देखिए यहां कोई गिरिकिरीट है तो कोई नागमणि, कोई शैलेशवसु है तो कोई शैलपुत्र कोई अश्वत्थ है तो कोई शाल्मली, कोई पलाश है तो कोई कनेर। लताओं के तो और भी मनोरम नाम हैं कोई वल्लरी है, तो कोई मंजरी, कोई शैलसुता है तो कोई विश्वप्रिया। फिर मौलिश्री, शेफाली, मालती, वासंती, जूही, चंपा आदि एक-से-एक बढ़कर एक-से-एक सुंदर नाम हैं। मन करता है सारा दिन रटते ही रहें।

'देवदारु' महातरु है। वैसे पंचतंत्रकार विष्णु शर्मा ने शाल्मली (सेमल) को भी महातरु कहा है। यों यह अत्युक्ति नहीं है। होता यह भी महाकाय महोदय तथा विशाल व्यक्तित्व वाला है। देखने में खाते-पीते घर के निश्चिंत जवान-सा। तन से गोरा-गोरा यह, मन से भोला-भोला है। अपनी चढ़ती जवानी में जरूर, यह कुछ रुखा-रुखा, कुछ-कुछ फूं-फां वाला, कपटकित-सा होता है। पर चढ़ती जवानी में, कौन कपटकित नहीं होता। बिहारी ने कहा तो है—*किते न औगुन जग करे, नय वय चढ़ती बार।* किंतु जवानी का ज्वार उतर जाने पर यह भी शांत-निर्मल स्वभाव का हो जाता है। वैसे जग की रीत है कि *धातुषु क्षीणमानेषु शमः कस्य न जायते।* पर यह 'धातु' की क्षीणता में नहीं धातु की प्रबलता में शांत-संयमित रहता है। साधु की नांई, औरों की संपत्ति को देखकर फूला-नहीं समाता। यहां कितने हैं जो दूसरों की समृद्धि को देखकर प्रसन्नता की प्रभा बिखेरते हैं? इसके फूलों की फाल्गुनी आग, माघ से ठंडी पड़ी वैश्वानर की सुप्त अर्चियों को उज्ज्वलित कर देती है। शाल्मली का रंग एकदम पलाश हो उठता है।

## कथा, लोककथा और देवदारु

देवतरु का अर्थ है देवताओं का वृक्ष। क्योंकि यह देवताओं द्वारा रक्षित है और उनकी वधुओं के द्वारा पोषित। शिवप्रिया पार्वती द्वारा अपने स्तनों का दूध पिला-पिलाकर एक 'देवदारु' को पुत्रवत् पालने की एक कथा रघुवंशम में भी आई है। आदिकवि कालिदास

के इस महाकाव्य के दूसरे सर्ग के गो-चारण प्रसंग में कुंभोदर नामक एक शिवगण राजा दिलीप से कहता है कि—

*अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं, पुत्रीकृतो सौ वृषभध्वजेन।*
*यो हेमकुंभस्तननिः सृतानां, स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञ।।*

तुम इस सामने वाले देवदारु के पेड़ को देख रहे हो न! शिवजी ने इसे अपना पुत्र माना है और जगत्-महतारी पार्वती के कनकोपम घटस्तनों के दुग्ध महारस को पी-पी कर बड़ा हुआ है यह। बालकपन में एक बार, जब एक उन्मत्त हाथी ने मस्ती में अपनी कनपटी खुजाते हुए इसकी सुकोमल त्वचा रगड़ दी थी तब पार्वती के क्रोध का कोई ठिकाना न रहा था। ठिकाना रहता भी कैसे? कहां फूल-सी कोमल देह और कहां मदमस्त गजराज का प्राणांतक हमला। तब मां-पार्वती को यह देखकर इतना दुःख हुआ था जितना कभी देवासुर संग्राम में दैत्यों के बाणों से घायल प्रिय पुत्र कार्तिकेय को देखकर हुआ था। पार्वती ने तब से उसकी रक्षा में एक सिंह को नियुक्त कर दिया है। देवदारु परम भाग्यशाली है। फिर, जो शंकर जैसे पिता के आंगन में पला हो, जो गणेश और स्कंद जैसे भाइयों के संग खेला हो, तथा जिसने जग-जननी पार्वती का अमृतरस (दूध) पिया हो वह भला परम भाग्यशाली क्यों न होगा।

आप शायद जानते होंगे कि पार्वती के साथ पाणिग्रहण होने के पश्चात से शिव हिमाचल में ही; घर-जंवाई होकर रहने लग गए हैं। चूंकि हिमाचल-पुत्री पार्वती ब्याही है न शिव से। वे हिमाचल के जमाता हैं। जब से देवाधिदेव महादेव शिव यहां बसे हैं तब से ही शायद हिमाचल की संज्ञा देवभूमि हुई है। जब से महायोगी शिव ने यहां अपना मधुचंद्र मनाया है तब से इस धरा का आकर्षण और बढ़ गया है। अनेक देवगण अपनी नवयौवना प्रेमिकाओं के संग, प्रच्छन्न रूप में, यहां आनंद मनाने आने लगे हैं। प्रकृति और लीलामयी हो गई है। चंद्रमा में नया मधु संचित हो गया है। चांदनी और उजली हो गई है। कुमारियों में नवीन आभा प्रवेश कर गई है। उनकी आंखों में मद और गति में आलस्य भर गया है। हावों में कई आकर्षक मुद्राएं जुड़ गई हैं। किन्नरियों के कण्ठ में लोच आ गई है। उनकी नाटी (नृत्य) में मादकता और रूप में नवता समा गई है। मस्ती में लहराता उनका नृत्य यदि आप देख लें तो नृत्य में पारंगत भी आप अपने सारे गतिचार भूल जाएंगे। सारा वातावरण ही महारस और रास के आनंद में डूबा-डूबा सा है। देवदारु भी इस आनंद में शरीक है।

मैदानों के दानी रसाल की तरह पहाड़ों का यह कर्ण, वचन में सदा स्थिर, स्नेह में उन्मुक्त बाहू, दान में (सर्व) स्व-त्यागी, आचरण में शुचिचरित्र, तप में आदरणीय, शांति में स्पृहणीय, कांति में हरिताभ, क्रांति में उदग्र और उपकार में अनुकरणीय है। आतिथ्य में ऐसा कि घर आए मेहमानों को अपनी अमृतोपम समस्त छाया का दान कर सैकड़ों प्रशंसाएं प्राप्त करता है तो किसी निःशेषकेशी के सिर पर अपने तेल की मालिश कर रोम-रोम के

लिए दुआएं अर्जित करता है। क्या आप जानते हैं कि देवदारु के तेल की मालिश करने से गंजे सिर पर काले घने बाल आ जाते हैं? दधीचि की तरह लोकहित में अपनी हड्डियों तक का दान करने में जरा संकोच नहीं करता।

कोयल इसके झुरमुट को सार्थक मानती है। गिलहरी, इसे आकाश की टेक मान, इसकी थाह नापती है। चील इससे ऊंचा उड़ने में ही, उन्नति स्वीकारती है। चिड़ियों के लिए अश्वत्थ है यह, तो मोनाल के लिए नृत्यमंच। कभी जब शुक-सारिकाओं का समूह इसके शाखायतन पर चहकता है तो लगता है कि विश्व के सारे लोक-गायक देवतरु का जन्मदिन मनाने आ पहुंचे हैं। अगर शाखामृगों के लिए यह क्रीड़ातरु है तो कस्तूरी के लिए गोप्ता तरु। चीटियों के लिए यही स्वर्गनिसैनी है। कहा भी है न, जो जितना ऊंचा है वह उतना ही महान् भी। यों ऊंचाई के मामले में खजूर का पेड़ जरूर बदनाम है। कामायनीकार ने देवदारु की लंबाई मनु (मन) की लंबाई जितनी कही है—"*उसी तपस्वी से लंबे थे देवदारु दो-चार खड़े।*" पर दो-चार ही क्यों, सैकड़ों देवदारु, मन की रक्षा स्पर्धा में उनके आस-पास खड़े होंगे।

लोक की मानसिकता है कि जो संपन्न है उससे उगाहो, जो उदार है उससे तो और भी। फिर इस देश में मंगतों की तो कोई कमी नहीं। हम मानव हैं न, सबसे पहले लेने की सोचते हैं। देते समय हमें रक्तचाप हो जाता है। स्वार्थ की क्षुधा ने हमारी परार्थ की वृत्ति में लोलुप जीभ उगा दी है। इसीलिए हम सहस्त्रजिह्व हो चाटते हैं, सहस्त्रफन हो फुफकारते हैं और सहस्राक्ष हो ताकते हैं भोज्य को। किसी भी अवकाश में घुस बैठना हमारी प्रकृति है और किसी के भी आकाश में विष्णु (व्यापक) हो उठना हमारा स्वभाव। हम चाहों की ऐसी आकाश बेलें हैं जो देवदारु की शिरा-शिरा से स्वार्थ काम हो लिपटी हैं। यदि यह वन्यों के लिए देवतुल्य है तो हमारे लिए चूल्हे की लकड़ी जैसा।

हिमालय का सतत् साधनाव्रती यह तरुराज, हिम में, शीत में, बात में, ताप में, आंधी में, घाम में सदा अविचल पांव है। बर्फ के दिनों में नखशिख भस्मी रमाए सृष्टि के स्वस्तिवाचन में व्यस्त यह 'वरं ब्रूहि' की मुद्रा में होता है। ईश्वरीय ऐश्वर्य और कारुण्य की प्रवृत्ति के कारण यह गगनचुंबी भी याचकचरण चुंबी बन जाता है। ग्रीष्म में अपनी हजारों भुजाओं को शतआतपत्रों की तरह फैला कर आतपहर हो उठता है। शिमला के मालरोड पर लाला लाजपत राय के पास एक देवदारु है जो जाने कब से आतपहर हो यहां खड़ा है। देवछतरी की तरह तना हुआ यह सबके लिए कृपालुभाव से झुका है। अपनी जवानी के दिनों में असंख्य नौजवानों ने जो इसके नीचे खड़े होकर जितने दीर्घ श्वास भरे, प्यार के जितने वायदे किए, प्रेम की जितनी कसमें खाईं वे सब कंप्यूटर की 'मेमरी' में हैं। प्रेमी भले ही भूल गए हों। चुप-चुप भी यह प्रेमियों की गुफ्तगू में शामिल रहा है। इसकी एक-एक पत्ती पर पता नहीं कितनी-कितनी प्रेम कथाएं अंकित हैं।

हर प्रदेश का वासी यह हरेक के लिए शिवांश से मुक्त है। विचारशीलों का कहना है कि मर्यादा में जैसे राम, लीलापुरुषों में कृष्ण, देवों में महादेव, सिद्धों में बुद्ध, गंधर्वों में

चित्ररथ, लोकपालों में इंद्र, ऋषियों में वाल्मीकि, मुनियों में व्यास और वृक्षों में कल्पवृक्ष है, ठीक वैसे ही है यह गुणों में परमोत्तम वृक्षों में वृक्षराज।

एक बार श्रावण पूर्णिमा को बड़ी उजली रात थी। वन में मुझे चंद्रिका महोत्सव देखने का सुअवसर मिला। मैंने देखा जहां कई सरलमन गुण-पारखी, कैल चीड़ और बुरुंस आदि इसकी उच्चता, इसकी सरलता, इसकी उदारता, इसकी पुरुषता तथा उसकी श्रमजीविता को सराह रहे थे वहां कई वक्रमन कैंथ, कांगू एवं कसमल आदि विरोधियों की तरह मात्र गालियां बकने को ही अपनी उपलब्धि मान रहे थे। इस महोत्सव में जहां कई प्रौढ़ा बल्लिरियाँ इसके पौरुष पर विमुग्ध थीं वहां कई आधुनिकाएं इसे अपने पुरुषों/प्रेमियों के समक्ष ही सराह रही थीं। कई 'टीन-एजर-लतिकाएं' तो धरती पर रास और आकाश के टी.वी. पर अभिसार के दृश्य देखकर इस महारास नायक के साथ भाग जाने तक को उत्थितपगा हो रही थीं। कई गाछक्षुप, कुबड़ों के अभिनय में व्यस्त थे तो कई झाड़ियां कुब्जाओं के रोल में। महोत्सव का यह मोहक दृश्य, हर पूर्णिमा को नटेश की क्रीड़ाभूमि पर सारी रात अभिनटित होता है।

वैसे आप इस तरुवर के मुकाबले में देवगार्डन के कल्पतरु को सराह सकते हैं। आप कह सकते हैं कि स्वर्ग की क्यारी में इंद्राणी जिसके आले में पानी भरती है, अप्सराएं जिसकी आरती उतारती हैं, देवता जिसके प्रभाव के वशीभूत हैं, सिद्ध जिसके प्रशंसक हैं, गंधर्व जिसके गायक हैं और लोकपाल जिसके संरक्षक हैं अतः ऐसे अमरलोक के वृक्षराज के समक्ष इस मृत्युलोक के देवदारु की भला क्या बिसात? फिर जिस वृक्ष को जंगली भैंसे, हाथी, गीदड़ तक अपना कर्णकण्डुक समझते हों, जिसके नीचे अघोरी बिलाव और सिर पर तांत्रिक कव्वे मंडराते हों, और जिसके अस्तित्व को उच्छिन्न करने के लिए मामूली लक्कड़चोर तक आरी ले, पीछे पड़े रहते हों उस बेचारे दरख्त की इतने महिमान्वित तरुवर से कैसी समता?

परंतु नहीं! जब हिमोत्सव में स्वर्ग गंगा अपनी धवलता लेकर, लक्ष्मी अपनी ऋद्धि लेकर, ब्रह्माणी अपनी शुद्धि लेकर और पार्वती अपना दुलार लेकर इस पर आशीर्वाद स्वरूप उतरती हैं तो इसका मस्तक स्वर्ग से भी ऊंचा उठ जाता है, इसकी छाती इंद्र से भी चौड़ी हो जाती है और इसकी कीर्ति देवों से भी शुभ हो उठती है। जब बसंत इसके सम्मान में चतुर्दिक उपनिषदों के विचारों की तरह श्वेत-रागारुण-पोत पुष्प-निचय खिला देता है, ग्रीष्म इसे धर्मग्रंथों की तरह आतपहर का सम्मान देता है, पावस इसके भोग के लिए लता-लताल वीरुध-वीरुध में रस सरसा देता है, शरत् इसके पराग को माथे पर पीत-तिलक की तरह लगा गौरवान्वित हो घूमता है, शिशिर जिसके वैरियों को विपत्र बना देता है और हेमंत जिसके विजयाभियान में पथ से हिमबाधा हटा देता है तब एक क्या, कई-कई कल्पवृक्ष भी इसके भाग्य की समकक्षता नहीं पा सकेंगे। अपने प्रचार में यद्यपि यह तिकड़मी नहीं है पर प्रचार और साधना में जो मूल्यगत भिन्नता है उसे यह समझता है।

भारत की पूरी उत्तरी सीमा की रक्षा के लिए देवदारु की अपनी बी.एस.एफ. है। जगह-जगह सैकड़ों छावनियां हैं। दर्रों पर तो विशेष रक्षा टुकड़ियां तैनात हैं। क्या मजाल

कोई दुष्ट, अपना सर उठाकर भारत की तरफ देखे। सारे विश्व की वन-सरकारों में रक्षा सैनिकों के कमांडोज के रूप में देवदारु अगणित सम्मानप्रद चक्रों से विभूषित हैं। □

देवदारु

रेखांकन : महेशचंद्र सक्सेना

# तीन कविताएँ

## रामदरश मिश्र

(एक)

### आग

*बहुत गर्मी थी*
*उनकी वाणी में और मौसम में भी*
*उनके इशारे पर*
*रास्ते भर हजारों हाथ गरम जोशी से उठते रहे*
*हाथों में टंगे झंडे गरम हवा फेंकते रहे*
*भेड़िए सी आंखों में*
*हिंसा प्रतिहिंसा की आग धधकती रही*
*आवाजों में मर मिटने के नारे*
*लूक से टूटते रहे।*

*जब इष्ट की प्रतिष्ठा करके लोग लौटे*
*तो पेट की दबी आग उभर आयी थी*
*लेकिन चूल्हा ठंडा पड़ा था।*
*लोगों ने चारों ओर देखा*
*वे कहीं नहीं थे।*

(दो)

### उत्तर आधुनिकता

*उसने कहा—*
*कविता वापस लौट रही है।*
*और कविता की जगह*
*वह जाते जाते स्वयं लौट आया*

*उसने कहा—*
*यथार्थ अब जादुई हो रहा है।*
*और उसका चुकता हुआ जादू*

फिर एक बार यथार्थ बन कर मुस्करा पड़ा
उसने कहा—
अब सत्य को जोड़कर नहीं
तोड़कर कहा जा सकता है
और उसका टूटता हुआ सत्य युग
फिर जुड़ने लगा
वह न जाने और क्या क्या कहता कि
बीच में ही एक श्रोता किस्सा उठा
बस भाई बस,
तुम्हारी हिलती हुई कुर्सी को जमाने के लिए
इतना मसाला काफी है।

(तीन)

## बड़प्पन

[एक]

माना कि आप बहुत बड़े हैं
लेकिन जरा देखिए तो
आसमान की ओर मुंह किए
आप जमीन पर नहीं
ऊंची कुर्सी पर खड़े हैं
और कुर्सी का क्या भरोसा श्रीमान
वह या तो पटक देती है
या खुद ही टूट कर गिर जाती है
तब जमीन ही उसे संभालती है
फिर अपना टूटा हुआ बड़प्पन लिए हुए आदमी
निरीह भाव से जमीन को निहारता है
और जमीन उसकी ओर मुस्करा कर देखती है
जमीन से लगे छोटे-छोटे पांव
आपस में मिलकर रचना करते रहते हैं
एक विराट मानव-यात्रा की

और आसमान स्वयं उनके ऊपर झुका होता है
आशीष की तरह
बड़ा आदमी देखता है इन्हें
लेकिन इनके साथ हो नहीं पाता
और अपने वर्तमान को अकेला पाकर
अतीत में बड़बड़ाने लगता है
माना कि आप बहुत बड़े हैं
लेकिन ...

[दो]

जहां कहीं जाता हूं
अगली पंक्ति में कुर्सी खोजता हूं
जो कि खाली नहीं होती
उचटा सा इधर-उधर देखता हूं
तो कोई दया करके कुर्सी छोड़ देता है।
जिस किसी सभा में जाता हूं
निगाहें मुझ पर टिकी होती हैं
वक्ता कोई हो
मुझे कुछ न कुछ बोलने का
अभिशाप झेलना पड़ता है
कोई भी मरता है
या दुर्घटना ग्रस्त होता है
तो पहली सूचना मुझे मिलती है
और नहीं पहुंचने पर
मेरी अनुपस्थिति चर्चा में आ जाती है
हस्ताक्षर अभियान के लिए
कागज सबसे पहले मेरे पास पहुंचता है
और 'हां' के जाल में उलझा देता है

मैं चाहकर भी किसी ढाबे पर
न चाय पी सकता हूं न कुछ खा सकता हूं
छोटे-छोटे किंतु मनचाहे लोगों के साथ

*न आ सकता हूं, न जा सकता हूं*
*चाहता हूं—कुछ क्षण अकेले घास पर बैठा रहूं*
*लेकिन लोग पूछने लगते हैं*
*किसी का इंतजार है क्या?*
*और पास आकर बैठने लगते हैं*
*अपनी अवांछित उपस्थिति से*
*मेरे अपने समय में पैठने लगते हैं*
*कभी-कभी तंग आकर सोचता हूं*
*कैसा है यह बड़ा होना*
*भीतर-भीतर पंगु होते जाना*
*और बाहर बाहर तन कर खड़ा होना*

## तीन कविताएँ

सीताकांत महापात्र

(एक)

### कोई और

*तटस्थ खड़ा हो जाता है वह आदमी*
*सड़क किनारे, फाटक के सामने*
*खड़ा रहता है और*
*फाटक पर लगी नामपट्टिका देख*
*कुछ याद कर रहा है शायद*
*जैसे कि वह उसका नाम नहीं*
*इतिहास के किसी और*
*अधचिह्ने व्यक्ति का नाम है*
*मानो वाकई वह*
*नामपट्टिका की अधमिटी लिपि है*
*जिसके चारों ओर है*

झाड़-झंखाड़, मृत्यु और
शून्यता के हाहाकार!

नामपट्टिका के अक्षर
मृगतृष्णा की तरह बहने लगते हैं
अस्पष्ट हो समा जाते हैं शून्य में
अदृश्य मरुस्थल में
जैसे वह कोई थका-हारा ऊँट हो
चलते, चलते
रेत, पत्थर, शून्यता को धकेलते
अब आ पहुंचा है
इस गुमनाम मरुद्वीप में
सामने, घर के सामने बगीचे में
बड़े जतन से अपने हाथों से
रोपे तमाम पौधे

जगह-जगह खजूर की झाड़ियों के झुंड
इधर-उधर पड़े हैं
मरे हुए ऊंटों के कंकाल
चारों ओर है मृगतृष्णा
सब्ज स्मृतियों की फूलमालाएं।

कुछ भी याद नहीं आता
उस आदमी को
याद नहीं आता
अभी कुछ ही मिनटों पहले
निकलकर गया था वह
इस दुर्ग से प्रातःभ्रमण के लिए
नाम गांव पद-पदवी
यादें और चेतना साथ लिए
लौट आने के लिए
रोज की तरह अनायास
इस परिचित परिधि में

बच्चों की हंसी-खुशी में
चाय, अखबार और
छायामूर्ति नारी की आंखों में।

अब सामने उसे दीखता है
दूर-दूर तक पसरा रेगिस्तान
फिर वह रेगिस्तान बदल जाता है
लहरों से भरे समुद्र में
अनंत जलराशि स्पर्श करती है
शून्य नील नभ
मानो वह पहुंचा हो
अचानक एक अनजान ग्रह में
धिक्कारता है खुद को वह
हाय री किस्मत!

कुछ भी याद नहीं आता
याद आता है
फिर याद नहीं आता
चाय, अखबार लिए वह देखता है
उस बरामदे में कोई बैठा है
नदी किनारे बैठकर
नाव का इंतजार करने-सा
हूब हू उसी का चेहरा, उसी की नाक।

बैठे-बैठे मानो वह कुरेद रहा हो
अपनी तमाम लंबी सुबहें
अंतहीन रात्रि के प्रहर
आशा आश्वासन और तसल्लियों के
असंख्य अधमरी साँझ के शोक
यह घर, वह कमरा
अथाह स्नेह और स्मृतियां
सिर्फ एक राहहीन जंगल और
ऊंची-ऊंची घास

*पुराने घाव और भय के अत्याचार*
*पसरे पड़े हैं चारों दिशाओं में*
*वसंत, वर्षा और ग्रीष्म हैं सब तरफ*
*ताक की किताबों पर धूल*
*शॉल और साड़ियों पर धूल*
*चेहरे और आत्मा पर धूल*
*दुःख और स्मृतियों की*
*तमाम कंटीली झाड़ियां*
*ऋतुचक्र के आवर्तन में हैं लाखों यंत्रणा।*

*दिख जाती है खिड़की से*
*एक नारी-मूर्ति*
*एक सर्वसहा नारी*
*मानो कई जन्म पहले देखे*
*सपने की एक तसवीर*
*परछाई-सी कमरे से बाहर*
*बाहर से कमरे में*
*चूल्हे के पास बच्चों के उलाहने*
*सुनाई पड़ते हैं कानों में*
*भूलती जा रही है*
*अतिप्रिय और करुण पूरबी।*

*पलभर तटस्थ खड़ा रहता है वह आदमी*
*फाटक के सामने*
*सोचता है कुछ*
*और फिर राह बदलकर*
*परछाई-सा चला जाता है कहीं।*

(दो)

## साँझ सवेरा

*हमेशा देर से पहुंचता हूं*
*ताजे फूल, धूप और मृत्यु की महक*

मलिन कोठरी में भर चुकी थी
सारे शब्द निःशब्द
समा चुके थे शून्य सागर में
सारी मुद्राएं स्तब्ध और चकित
चली जाती हैं कहीं
सुबह के तारों की तरह
कुछ कहने से पहले
सहसा राह बदलकर
कोई चला गया होता है
सारी बातें अनपहुंच रह जाती हैं।

बस इतना ही समझने में
लग गई तमाम उम्र
सबेरा डोंगी में बैठ
बराज से आता है टोले तक
टोले की छोर पर
चाय की दुकान में बैठ कर
चाय पीता है मन मार कर
मीत बनाता है
सहजन की डाल पर बैठे
एकाकी कौए को
और शाम को डोंगी पर सवार हो
पुनः चला जाता है
आकाश में नदी के उस पार
जब कि जो सबेरा है वही सांझ है
उजाले का ज्वार और भाटा
महज अवाक् स्मृतियों का खेल है
नदी के उस पार से
दूर ही कितना है बराज
पहुंचने का उन्माद
हमेशा धरे रखता है
लौट जाने का उच्चाटन।

इतना ही समझने में
सचमुच एक जीवन
कितना छोटा है
कितना लाचार है
उजाले की बेल बढ़ जाती है
अंधेरे से अंधेरे की ओर
धारा बह रही है चिरकाल
एक घाट से दूसरे घाट की ओर
घाट किनारे रेत पर
चित्र आंकते हैं पुरोहित
प्रेत दिखता है मंदिर की दीवार पर
एक अधमिटी तसवीर-सा
पुरोहित मंत्र पढ़कर
उजाले और अंधेरे को
सुबह और सांझ को माटी पानी हवा को
असीम आकाश को, अनुपस्थिति को
क्षण में जोड़ देता है
उस नदी के मंगल सूत्र में
सहसा अपरिचित दिन-रात
बह जाते हैं स्वप्न की तरह
नदी की धारा में।

चाहे जितने आंसू बहाओ
फिर भी अबूझ रह जाता है
नदी का किनारा और उसकी रेत
सांझ आ पहुंचती है सुबह-सुबह
कुछ-कुछ पहचानने-सा भाव लिए
और कभी-कभी सबेरा भी
आ पहुंचता है सांझ को
राह भूलकर।

(तीन)

## पदाधिकारी

*सारी स्मृतियां क्षोभ और अनुरक्ति*
*समस्त पराजय और विस्मृति और क्षति*
*बिना दुविधा पछतावा और तर्क के*
*स्वीकार लेता है वह आदमी*
*सिर झुकाए सह जाता है सारे निर्णय।*

*हवा रहित कोठरी में स्थिर*
*दीप शिखा-सा दांय-दांय जलता है*
*डावांडोल कागज का सिंहासन*
*वहां तक पहुंच जाती हैं सीढ़ियां*
*नीचे से ऊपर*
*व्यग्र दौड़तीं चुहिया*
*चींटियों के जत्थे*
*सरल विश्वास असंख्य पतंगे*
*कूद पड़ते हैं उस अग्नि शिखा में।*

*रक्त-पुते दिगंत से आकर*
*असंख्य अनसुलझे प्रश्नों और उलाहनों का प्रकाश*
*दुःस्वप्न-सा मंडराता है पीले कागज पर*
*मानो सुंदर शांत सुबह*
*सिल-सिल बहती हवा*
*चिड़ियों की चहचहाहट*
*डूब रही है अपंग और अक्षम शब्दों की अतल नदी में।*

*असंख्य कागजी नाव की संभावनाओं से*
*कभी-कभी प्रलुब्ध प्रभु के*
*भीतर का शिशु जाग उठता है*
*अधमरी हड्डियों के नीचे रहते हुए*
*सपने कुरेदता है।*

*टूटे-फूटे सारे कोढ़ी हाथ*

कृपा भिक्षु संदेही हाथ
इर्ष्यान्वित क्रुद्ध तलवारों की उठी अंगुलियां
अविश्वास, क्षोभ, हताशा की जारज अंगुलियां
बढ़ जाती हैं,
बढ़ आती हैं
सिंहासन और मुकुट की ओर।
मुखमंडल पर सदा उसके
रहती है थकान भरी मुद्रा
प्रतिहिंसा की तलवार
रहती है कोषबद्ध अशक्त।

बंद कमरे की दीवारों पर
देखता है वह परछाइयों का रौंदा-मसला
वीभत्स स्वार्थों का भयंकर कुंभमेला
एरकार वन में उन्मत्त यदुओं के शवों की ढेरियां
देखता है वह ढेरों बघनखी और ढालों के
आलिंगन और नृत्य
देखता है सपने के टूटे मंदिर में
अंगहीन अपंग आकांक्षाओं के विभंग स्थापत्य।

सुनता है वह
अनंत अष्टवक्र शब्दों का सघन मालकोष
सुदूर बैकुंठ से बह आता है
उच्छिष्ट दिव्यज्ञान
गुनगुनाकर टेलीफोन में ब्रह्मज्ञान का भग्नावशेष।

सुनसान कागज की लीक
धूप में पसरी रहती है तो पसरी रहती है
न जाने किस सुदूर इप्सित घी शहद के
स्वप्न संसार तक,
निरीह बैलगाड़ी वाले का गीत
अस्पष्ट मंत्र-सा बहता चला जाता है
शुष्क बादलों में

*पिंगलवर्णी आकाश से झरती है सिर्फ आग*
*अंगार धूम्र और आग झरती है*

*सम्राट ब्रह्मा*
*गतिहीन पीलिया-शब्दों की नदी से लाकर*
*भर-भर कमंडल मंत्रित पानी छींटते हैं,*
*जी-जान लगाकर छींटते हैं*
*पर मर रही दूब को भी नहीं बचा पाते।*

*नजर चुराकर धूप चली जाती है*
*तारे टिमटिमाने लगते हैं धुंधले आकाश में,*
*कमल शून्य में लटकी रहती है त्रिशंकु बन*
*उतर नहीं पाती पश्चाताप की मरुभूमि में*
*निर्णय की इंद्रनील अमरावती में।* □

***मूल ओड़िया से डॉ. राजेंद्र प्रसाद मिश्र द्वारा अनूदित***

## तीन कविताएँ

## रमेश मेहता

(एक)

### संबल

*कोमल स्पर्श की भाषा*
*कब समझोगी तुम?*

*एक सुख है*
*जो खेलता है आंख-मिचौनी*
*एक दुःख है*
*जो अवांछित ऋतु सा टिका हुआ है*
*पलकों पर*

*एक आस है*
*जो बंधी हुई है मंझधार में डोलती*
*नाव पर*
*एक विश्वास है*
*जो गिर गिर कर उठता चलता जाता है*
*सघन वनैली घास पर*
*जो आशा की रूपहली किरण एक*

*तुझे शत शत प्रणाम*
*दुनिया जिन चीजों से तोड़ती है*
*तू मुझे*
*उन सबसे फिर फिर जोड़ती है*

(दो)

## मुक्तिपर्व

*डाल से टूटा*
*बयार के पंखों पर उड़ता*
*आनंद मना रहा था*
*पत्ता—*
*मुक्तिपर्व का*

*मुक्ति का यह क्षण*
*लघु नहीं*
*सनातन*
*अंग अंग में थिरकन*
*सिहरन*
*छूट छूट जाने की*
*बिछुड़ी हुई धरती का*
*स्पर्श*
*पुनः पुनः पाने की*

*जर्जर होना*

धूल में मिलना
यह सब तो
यूं भी होना ही था
किंतु
जो जिया
जिसे छक कर पिया
स्मृति-शेष थी
पाथेय
अगली यात्रा का
जिसके बारे में कुछ भी निश्चित नहीं है।
जो निश्चित नहीं है
उसे लेकर कैसा रोना
उससे अच्छा तो वही है
जो निश्चित है
उससे
जी भर भेंट होना

(तीन)

## अभय

चौखट पर आकर रुक गए
भागते हुए कदम
पसर गया सन्नाटा
गली के सभी मकानों में
जागृत थे
केवल कान!

भय
सर्पदंश सा लील गया चेतना
दरवाजे पर हल्की सी थाप
नसों में
नागासाकी समा गया

*दरवाजे को खुलना था*
*खुला*
*सामने बर्फ में नहाया*
*खड़ा था*
*घर का मुखिया*
*कांपते हाथों वात्सल्य का अभयदान देता।*

□

## तीन कविताएँ

### ज्ञानेंद्र पति

(एक)

### टेडी बियर में बचे हुए भालू

*बच्चियां जब*
*अपने टेडी बियर को छाती से चिपकाये*
*दुलार रही होंगी*
*छीज रहे भारतीय जंगलों में*
*और खोजी दलों और अनुसंधान-स्टेशनों के*
*कचरालय बने जा रहे ध्रुवीय प्रदेशों में*
*बेमौत मारे जा रहे होंगे भालू*
*काले भालू और भूरे भालू*
*बगैर किसी रंग-भेद के*

*कौन मार रहा होगा उन्हें*
*अपने टेडी बियर को छाती से लगाये*
*सो जाने वाली बच्चियां*
*क्या कभी सपने में भी जान सकेंगी इसे*
*निहायत मुलायमियत से उनके आलिंगन से*
*छुल्लक भल्लूक को हटा उन्हें रजाई उढ़ाने वाले पापा*
*आज ही कहा था जिन्होंने—बेटे, पुराना पड़ गया है यह*

*कल ही बाजार से ला देंगे तुम्हारे लिए*
*एक नया टेडी बियर*
*प्यारा-सा टेडी बियर—*
*वही पापा*
*मदारियों से मुक्त करा*
*भालुओं को बरास्ते चिड़ियाखाना वापिस*
*भिजाने वाले मोह से भरे उनके पापा*
*शामिल हैं*
*उनके और अपने भी अनजाने*
*भालुओं के हत्यारों में*
*और बेहतर कि इसे कभी न जानें जंगली मधुमक्खियां*
*कि शहदखोर शहदचोर भालुओं के लिए विलाप-नृत्य करती हुई*
*भंभोड़ डालें बस्तियों पर बस्तियां*
*आत्मघाती अभियानों में*
*नहीं, नहीं जान सकेंगी बच्चियां इसे*
*और न जान पायेंगे उनके प्यारे पापा*
*और पीढ़ी-दर-पीढ़ी*
*जंगली प्रदेशों से और बर्फानी प्रदेशों से अंततः मिट गये भालू*
*टेडी बियर बन कर दुकानों के शो केसों में बैठे रहेंगे अतीतातीत*
*वत्सल पिताओं की प्रतीक्षा में*
*मोहित बच्चियों की ममतालु बांहों के बीच होगी उनकी अंतिम शरणस्थली*
*उनकी आत्मा को मिलेगा अभयारण्य*
*जहां मां चिड़िया की तरह देह ही नहीं मन-प्राण की उष्मा से*
*सेयेंगे वे*
*वक्षांकुर*
*भविष्योन्मुख*

(दो)

## एक शोकाकुल स्वागत

*समाजशास्त्रियों के आंकड़ों में*
*बढ़े जा रहे हैं प्रेम-विवाह*

*जबकि सच तो यह है कि*
*साइबेरियाई सारसों की तरह प्रेमी विलुप्त हुए जा रहे हैं*

*वे जो यहां-वहां दिखते हैं*
*ताल-तलैयों में*
*नदियों-खेतों में*
*घात लगाये बारहो मास*
*बगुले हैं*
*गाय बगुले या कि मलंग*
*सारस नहीं हैं वे—कुलंग*
*रुद्ध पितरों और क्रुद्ध पिताओं की भाषा में जो*
*कुलांगार कहे जाते हैं*

*ये वे हैं जो*
*बांधते हैं जनम भर के लिए जोड़ा*
*वियोग में तड़प-तड़प कर दे देते हैं प्राण*
*क्रौञ्च हैं वे जिसके विरहातुर करुण क्रेंकार से*
*विषाद में डूब जाते हैं आदिकवि*
*निषाद को देते शाप*
*कर नहीं सकते क्षोभ का शमन*
*शोक श्लोक बन फूटता है :*
*मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः*
*यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्*

*आज हम—वाल्मीकि के वंशज*
*खड़े हैं हतवाक्*
*समझ नहीं पाते*
*कि आये हैं जो इस बरस*
*शीतकाल के अतिथि यायावर*
*साइबेरियाई सारस*
*भारत-भू पर*
*उतरे हैं*
*भरतपुर में*
*उनका किन शब्दों में करें शोकाकुल स्वागत*

कि वे सैंकड़ों के झुण्ड में नहीं
बस पांच हैं, पांच
एक हाथ की उंगलियों पर गिने जाने-लायक

वे पांच हैं
यानी उनमें एक इकला है या इकली है
उसकी वेदना को मापने के लिए अभी कोई यंत्र
ईजाद नहीं किया हमारे विज्ञान ने
क्योंकि उससे सधता नहीं कोई मतलब
मतलबी मतलब
है तो हमारा हृत्यंत्र
जिसकी सुई पगलायी-सी चारों ओर घूमती है
शायद कहे कोई जीववैज्ञानिक मुंह बना
संभवतः यह मैग्नेटाइट के कारण
हां, उस चुंबकीय धातु के कारण जो शक है कि इन पक्षियों के भीतर होता
देता दिशाज्ञान हजारों हजार मील के सफर में

सच तो यह
कि कल के व्याध भी आज एक विलुप्त होती हुई प्रजाति हैं
आदिकवि के शाप से ग्रस्त

सच तो यह
कि मामला संगीन है
इन यायावर पाखियों के रास्ते में उगे हैं संगीनों के जंगल
विस्फोटों से धुआं रहा है अफगानिस्तान का आकाश
उधड़ रही है धरती
आज के शिकारियों के जाल दिखते नहीं तनिक
संधियों और दुरभिसंधियों के मोटे तने वाले पेड़ों के पीछे खड़े
गठबंधनों के हठबंधन-सूत्र संभाले
अर्थपिशाच होते भी वे लोक में सर्वाधिक प्रतिष्ठित लोग हैं
सुरक्षित गुप्त स्थलों पर कि लवेण्डर-वासित तन के भीतर
अपने मन की सर्वग्रासी सर्वनाशी गंधकी गैसों के दहानों पर
हथियारों के विशाल कारखाने बिठा रखे हैं उन्होंने
बारूदी सुरंग-जाल बिछा रखे हैं

अपने पैरों तले से परे की शेष पृथ्वी पर
उनके आदमखोर हथियारों को पशु-पक्षियों से भी कोई परहेज नहीं

अपनी कांपती हथेली में
भारतीय प्रेमियों और साइबेरियाई सारसों को संभाले
आदि कवि का एक वंशज
चाहे मुँह से शाप नहीं उचारे
बखूबी जानता है
शाश्वत नहीं हो सकती कदापि प्रतिष्ठा वधिकों की

---

इस कविता में बगुलों के लिए आए हुए गाय बगुले और मलंग बगुले बक परिवार की दो जातियां हैं: गाय बगुले, कुछ छोटे-से वे जो प्रायः खेतों-चरागाहों में मवेशियों के सहचर बने या कभी-कभी उनकी पीठ पर सवारी कसे भी दिखते हैं और मलंग, बड़े, प्रायः इकले रहने वाले जलाशयों के किनारे भोजन-ध्यान लीन दिखने वाले। कुलंग-सारस या क्रौंच परिवार का एक सदस्य है: यह निरा संयोग नहीं कि आदि कवि के शोकाकुल छांदस उन्माद को जन्म देने वाला विरहातुर पक्षी क्रौञ्च था, वह वही हो सकता था।

---

(तीन)

## विदा, भाप इंजन

दुनिया के प्लेटफार्म पर
खड़ा है भाप इंजन
विदा लेता हुआ
उसका काला-कलूटा तन
हिचकियों के हिचकोले में झूलता-सा
आ गये हैं रंग-बिरंगे नये इंजन नवयुगी
डीजल के बिजली के
गति की प्रगति युग-सत्य!
जिसके समर्थन में
आज उसकी वाष्पाकुल सीटी
जयकारे-सी नहीं, कचोटती कराह-सी
भेदती लगती आसमान
गगनभेदी कूक में उठती हूक मनबेधी
कि कल को जिसके बिना

दूर-दूर तक के घरों में
सुबह रसोइयों में
गृहिणियों को पंजों पर दौड़ा बुलाने वाली
फफनते प्रेशर कुकरों की सुदीर्घ सीटियां
हो-हो जायेंगी उदास
जब भाप इंजन की धक्-धक् सो जायेगी सदा के लिए
हुक्के की गुड़गुड़ी के मद्धिम जलतरंग को छाती से लगाये

संचार युग यह? हां
बस भावनाओं का संचार नहीं होता हममें
दुनिया के प्लेटफार्म को छोड़ रहे
विदा लेते भाप इंजन को
विदा देतीं बस रेल-पथ के समानांतर सड़क से गुजरती
बैलगाड़ियों की बैल-आंखें सजल
हमारी आंखें गीली नहीं होतीं
होतीं तो बस कडुआती याद कर
कि उनमें चला गया हो कोयले का कण
खिड़की से झांकते—
जब जमीन पर पसरे किसी बड़े-से तालाब के किनारे-किनारे मुड़कर
रेल एक चाप बनाती हो
नर्तकी की देह ही जानती हो जैसी भंगिमा—
दिखा हो
खिड़की के सामने दहकते कोयलों के दिल वाले भाप इंजन का चेहरा
मांओं की गोद में किलक उठे नन्हें शिशुओं की आंखों में आंजता काजल
अपने कजरौटे से कि अंतरौटे से
एक ममतालु आदिवासी चेहरा गोदना-सजा
गाढ़ी पेंसिल याकि चारकोल से आंका गया
स्मृति-चित्र बनकर
जिसे बार-बार याद आना है
आने वाले दिनों में
इन जाने वाले दिनों के बाद

□

# तीन कविताएँ

ऋतुराज

(एक)

## उसका अपंग बेटा

*उस समय मैं असहाय था*
*आज से भी ज्यादा*
*एक अधकुचले कीड़े की तरह रेंगता*
*आंसूभरी आंखों से देखता*

*वे कुछ भी करने को तैयार थे*
*कमर कसकर लड़ रहे थे लुंजपुंज हुए निर्धनों से*
*अकाल और बाढ़ में घनघोर आनंदित हो रहे थे*
*कभी अत्यंत गंभीर मुद्राएं धारण करते*
*तो कभी देश का मनोरंजन करते ...*
*ऐसे ही एक समय तुमने मुझे अपनी संध्या से*
*धूप की तरह बाहर निकाल दिया*
*अपने दर्पण की धूल पोंछी और मुंह फेर लिया*

*वह समय न तो प्रकृति और न हमारे मनुष्य समाज के*
*प्रतिकार का समय था ...*
*फिर बहुत वर्षों बाद मेरी कुचली व्याकुल आत्मा ने जन्म लिया*
*वह एक शिशु था जो स्मृति और अनिर्णय के तरल लावे में*
*अधबना प्रस्फुटित हुआ*
*तुम बिलखतीं कि कब बोलेगा यह*
*कब बैठ सकेगा चल सकेगा*

*वह बिल्कुल गूंगा निशक्त अपलक देखता था तुम्हें मेरी तरह*
*किसी असहनीय अप्रतिहत वेदना में कराहता ...*
*जिस रूप में भी लौटा मैं*
*तुमने मुझे प्यार किया दुखी मन से ...*

(दो)

## गेरुई माटी

गेरुई माटी ढोते ढोते
मालिक और उसके गधे का रंग भी गेरुई हो गया
गेरुई है बीवी गेरुई हैं बच्चे
वे आंखें गेरुई हैं जिनमें अंतहीन यात्राएं छिपी हैं
गेरुई गंजी जिसकी जेब खाली है
गेरुई हैं बांस
किधर गयी बंसखोह की हरियाली?
चट चट चट चट बोलती है हवा
कुछ नहीं बोलती हैं गेरुई हड्डियां
सरकते जाते हैं गेरुई दिन गेरुई दुपहरिया
ठहरे हैं सूखी झील के किनारे गेरुई माटी की तलाश में

घोड़े हाथी रथ कितनी बार गुजरे हैं
कितनी बार धरती धरती में मिल गयी
कितनी बार माटी से माटी की काया को अलग किया?
फर फर फर गधे के कान हिलते हैं सुनो सुनो
गेरुई माटी के लिए न जाने कब किधर जाना पड़े
गांव गांव नदी नदी पहाड़ों की खोह में
गेरुए देवता को तो पूजते हैं लोग पर गेरुई भूल गये

ऐ बनजारी, यह झील परके साल क्या इतनी सूखी थी?
बगुलों और भाटियों की पातें क्या इतनी भूखी थीं?
ऐ बनजारी, चारों तरफ खार ही खार फैला है
चंद्रमा भी खार के एक बड़े चकत्ते जैसा निकला है ...
अजी ओ रंगरसिया, तनिक गहरा खोदो
कभी कभी खार के नीचे भी गेरुई छिपी रहे है ...

(तीन)

## मृत्यु राग

*मृत्यु को बरामदे से कमरे की तरफ*
*आते देखता हूं।*
*क्या उसे संगीत इतना पसंद है?*

*मूढ़े पर पांव सिकोड़े मरता हूं ...*
*वह आती होगी नींद और प्रमाद के*
*अनगिनत पहाड़ों को पार करके।*

*उन्होंने शक्ति के पथ पर सवार होने के*
*लोभ में मुझे बिखेर दिया,*
*मैं न घर में रहा और न वन में,*
*मात्र बने रहने की अहिंसा में,*
*बाहर से भीतर गया,*
*कुछ धुनें सुनीं और अकेला भटकता रहा।*

*एक कुशल गायक की तरह*
*मृत्यु को मुझ जैसा श्रोता पसंद था।* □

# तीन कविताएँ

## रामलखन यादव

(एक)

## मेरा उस पर कोई वश नहीं रहा

*कल रात स्वप्न में*
*आते रहे तमाम दुःस्वप्न*

*मैंने अपनी देह की उड़ती हुई राख देखी*

*उस राख से सुनाई देती रही*
*अजब अजब चीखें*
*मैं हुआ हैरान-परेशान*
*कि कहीं धारण न कर ले वह*
*कोई विकट खूंखार रूप*
*अजनबी खंडहर या प्रेतियोनि का*
*सांप, छछूंदर या बीहड़ बाघ का*

*थोड़ी देर बाद !*
*चमकने लगी वह सुनहरी धूप में*
*झिलमिलाने लगी किसी शुभ मुहूर्त सी*
*किशोर सूरज की तरह*
*यौवन पर आते चांद की तरह*
*आधी रात के समय की तरह*
*इतने सारे चमत्कारों के बाद*
*वह धारण कर ले कोई भी आकार*
*मुझे कोई आश्चर्य नहीं रह गया था*
*हालांकि मैं जानता था कि*
*वह कभी मेरी देह थी*
*परंतु अब तो वह राख ही है*
*इतने सारे रूपाकारों में बिखरी हुई*
*मेरा उस पर कोई वश नहीं रहा*

(दो)

## अंतराल

*यह किस तरह का अंतराल है*
*कि जब वर्षों बाद मिलना हुआ है*
*हम हैं समीप से समीपतर*
*और हमारे पास कहने के लिए*
*नहीं है एक शब्द भी !*

*यह किस तरह का समय है*
*कि बदला लग रहा है*
*तुम्हारे चेहरे का रंग*
*तुम्हारी बातों में छा गया है अजनबीपन*
*तुम्हारे हृदय की धड़कनें*
*कहीं दूर बजती लग रही हैं*
*तुम्हारी निश्छल आंखों में*
*तैरने लगा है धुआं*
*पथरा गये हैं तुम्हारे होंठ !*

*यह कैसी अजीब बात है*
*कि मैं तुम्हारे प्यार में रहकर*
*सारी दुनिया अपनी बाहों में भर लेता था*
*और तुम्हारी सांसों में बसकर*
*तय कर आता था आकाश की दूरियां*
*तुम्हारी आंखों में डूबकर छू आता था*
*समुद्र की अतल गहराई !*

*यह किस तरह का आश्चर्य है*
*कि आज शब्द अपना अर्थ खो बैठे हैं*
*और मिट चुके हैं मेरी स्मृतियों के चिह्न*
*मैं कहीं से भी तुम्हें पहचान नहीं पा रहा हूं !*

(तीन)

## बंजर हो जाने के खिलाफ

*यदि कवि की तरह*
*धरती की कोख में*
*लोग भी बन जाएं बीज*
*और हो जाए उनका प्रस्फुटन*
*घास की तरह*

*अचानक चमकने वाली उजास की तरह*
*तो यह विश्वास है प्रकृति का*
*कि धरती कभी*
*बंजर नहीं होगी !*

□

## गांव का खत शहर के नाम और शहर का खत गांव के नाम

लालित्य ललित

*उस दिन डाकिया*
*बारिश में*
*ले आया था तुम्हारी चिट्ठी*
*उसमें गांव की सुगंध*
*मेरे और तुम्हारे हाथों की गर्माहट से*
*मेरे भीतर ज्वालामुखी फूट पड़ा था*
*सच! ढेर सारी बातें लिख छोड़ी थी तुमने*
*समय से काम पर जाना*
*ठीक वक्त पर खाना खाना*
*और सबसे जरूरी शहरी सांपिनों से दूर रहना*
*कितना ख्याल रखती हो मेरा*
*या कहूं कि अपना।*
*याद है वह सावन की अलसाई दोपहर*
*ब्याह से केवल दो दिन पहले*
*जब गैंदा ताई के ओसारे में खाए थे*
*मैंने तुमने सत्तू और चूरमे के लड्डू*
*जिन्हें तुम सुबह से ओढ़नी में छिपाए हुए थी*

तुम्हारा खत उनका भी स्वाद दे रहा है
और याद आ गया मुझे बट्टू के पैदा होने पर
बांटी थी गांव भर में मिठाई
मैंने, बप्पा ने, अम्मा ने नाच-नाच कर।
मैंने पिछले हफ्ते फैक्ट्री में फिर बांटी थी मिठाई
संभाल-संभाल कर
जब मेरा-तुम्हारा बिट्टू हुआ था दस वसंत का
विमला कैसी है
क्या बापू को याद करती है
विमला अब तो बड़ी हो गई होगी
ध्यान रखियो शहर की हवा गांव तक पहुंच चुकी है
लड़की जात है ताड़ की तरह बढ़ जाती है
तुमने लिखा था पूरन काका भी पूरे हो गए
और हरी नंबरदार की तेंरहवीं चौदस की थी
समय मिला तो
आ जाऊंगा
पर शहर में समय मिलता है क्या?
वा 'हरिया' पिताजी के वक्त आया था
सब कुछ देखना पड़ता है जी।
मेरा भी मन न लगता
मुझ को भी कुतुबमीनार देखना है
अब के तुम्हारी एक न सुनूंगी हां ...

अच्छा, शहर में अपना ख्याल रखना
ठीक-ठीक काम करना
मालिक लोगों से बना कर रहना
जन्नत नसीब होती है
गांव आते वक्त
रेल से मत आईयो
मण्डी टेशन पर बम फटा था
लाली भौजाई कहे थी
लिख दियो, संभल कर आईयो

*मेरे लिए लाली*
*पीले रंग का ब्लौज*
*बट्टू के लिए बण्डी*
*बिमला के लिए ओढ़नी और हाँ*
*अम्मा के चश्मे का नंबर भेज रही हूं*
*बाकी क्या, बस तुम आ जाओ जी*
*अच्छा अब सुन लो ध्यान से*
*'बाबू' बन के आईयो*
*आते-वक्त कुर्ता पाजामा पहन के मत आईयो*
*यहां रौब नहीं पड़ेगा*
*पिछले महीने कजरी का 'वो' भी*
*गांव में हीरो बन के आया था*
*बड़ा अच्छा लगे था*
*सच तुम भी पैंट कमीज और जूते पहन के आना*
*वो याद से तिरछी टोपी जरूर लीजो*
*तू मुझ को 'वा' में राजा दिखे है*
*अच्छा अब खत बंद करती हूं* □

## चार कविताएँ

## कुमार वीरेंद्र

(एक)

### रेत

*सामने रेत ही रेत है*
*जैसे फैला हुआ आसमान*
*हृदय की गोलाई में*
*हराई में दबे बीज की भांति*
*अंकुरने के लिए व्याकुल हैं शब्द*

*मैं पार कर जाऊंगा यह रेत।*

(दो)

## दूज का चांद

*धरती पर कोख से गिरे*
*बच्चे की पहली मुस्कान है*
*दूज का चांद*

*गाभे से दुल्हन-सी झांकती*
*गेहूं की बाली है*

*भाई-बहन का रिश्ता*
*और माँ के आंचल के नीचे*
*होने वाला अहसास है दूज का चांद*

*दूज का चांद*
*घर लौटने की उम्मीद*
*और काली लड़की का सपना है*

*कश्मीर की पहाड़ियों पर पिघलती बर्फ*
*और यार के गले से लगकर*
*गुनगुनाने का मौसम है दूज का चांद*

*दूज का चांद*
*झुर्रीदार चेहरों का रंग*
*और भट्ठी से निकाला हुआ हंसुआ है*
*जिससे गांव की औरतें काटती हैं धान।*

(तीन)

## क्षण भर के लिए हरा

*जब शहर में*
*सन्नाटा छाया हुआ था*
*और सड़क पर*
*पुलिस दिखाई दे रही थी*

*ऐसे में मैंने*
*लुढ़कती गेंद के पीछे*
*दौड़ते आते बच्चे को देखा*
*और क्षण भर के लिए हरा हो गया।*

(चार)

## स्कूल जाना

*हर रोज मुझे*
*स्कूल जाने के लिए*
*एक भीड़ पार करनी होती है*
*लोगों की बीच*
*गेहूं-सा पिस जाना पड़ता है*

*कभी-कभी*
*धक्के से गिर जाता हूं*
*और पता नहीं*
*कितने लोग*
*मेरे ऊपर से गुजर जाते हैं*

*यह भी नहीं पता*
*कि वे कौन होते हैं*

*केवल यही मालूम*
*कि स्कूल पहुंचना है*
*और पढ़ना है अपना अगला पाठ।* □
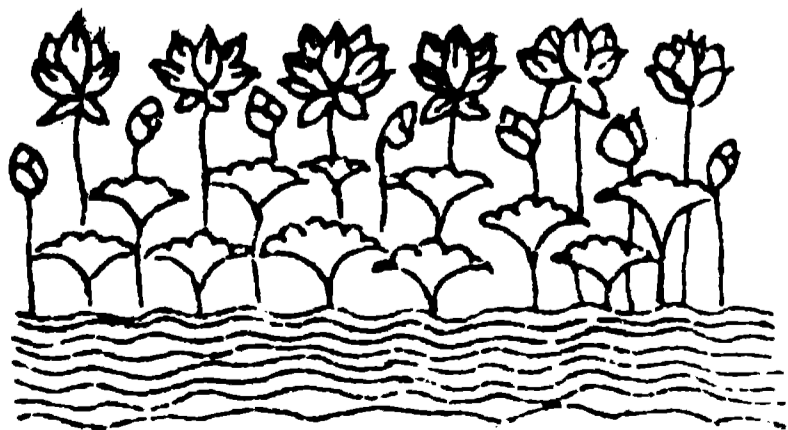
# शीतलहर : कविता की रेतीली जमीन जहां शब्द चमकते हैं

डॉ. सुवास कुमार

'ढुंढिराज', 'आदमखोर' और 'कबंध' के पश्चात् 'शीतलहर' प्रौढ़ कवि विश्वंभरनाथ उपाध्याय का कायदे से चौथा कविता-संग्रह है, हालांकि अन्यत्र भी इनकी कविताएं संकलित-प्रकाशित होती रही हैं। कवि ने सन् 1975 यानी आपातकाल तथा उसके बाद की कविताओं को 'शीतलहर' में संकलित किया है और 'शीतलहर' नाम 1983 की प्राकृतिक शीत लहर के साथ 75 के बाद के 'चेतनात्मक ठंडेपन को देखकर' रखा है।

कवि के महत्वपूर्ण संग्रह 'कबंध' में उपाध्याय जी की 41 कविताएं संगृहीत थीं। कवि का आग्रह था कि उसकी कविताओं को प्रचलित 'कोटियों से परे' रखा जाए। दावा यह था कि वे कविताएं किसी पूर्व या वर्तमान प्रारूप का सहारा लेकर नहीं रची गयी थीं। 'शीतलहर' में भी कवि का कहना है कि उसकी कविता को उसके आलोचक तथा उपन्यासकार व्यक्तित्व से 'बांधकर' न देखा जाए, कि रचनाकार से अलग (निरपेक्ष) और स्वतंत्र रूप से रचना पर विचार हो। एक तरह से कवि की यह 'मासूम' माँग जायज है। कविता में कवि अपनी सहज आंतरिकता में उपस्थित होता है। कथाकृतियों और आलोचना में लेखक को अपेक्षाकृत वस्तुनिष्ठ और तटस्थ होना पड़ता है। पर सवाल उठता है कि क्या कविता रचनाकार के व्यक्तित्व के दूसरे आयामों से संपूर्णतः अछूती रह सकती है? कविता में कवि की अंतः प्रेरणा उसके ज्ञान से सर्वथा विलग हो, क्या यह संभव है? कविता में अन्य विधाओं की अपेक्षा कवि का निजी व्यक्तित्व जरा ज्यादा ही मौजूद होता है—इसे उपाध्याय जी अस्वीकार नहीं कर सकते। 'कबंध' में अपनी कविताओं के विषय में उन्होंने कहा था—"शायद सभी कविता प्रारूपों से भिन्न अपनी अटपटी और औघड़ चाल-ढाल के कारण ही इन कविताओं की ओर पाठकों और साहित्यिकों का ध्यान गया।" यह औघड़पन उपाध्याय जी की आलोचना और औपन्यासिक कृतियों में संपूर्णतः अनुपस्थित हो, ऐसा भी नहीं। उनका आलोचक 'कबंध' की भूमिका में कविता की परिभाषा इस प्रकार देता है, "कविता आंतरिकीकृत कथ्य की चरम अभिव्यक्ति होती है।" जाहिर है, उपाध्याय जी कविता को व्यक्तित्व से पलायन नहीं मानते। अतः इसे अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिए अगर उपाध्याय जी का उपन्यासकार और आलोचक उनकी कविताओं में यत्र-तत्र झांकता नजर आये। उपाध्याय जी की कविता की संरचना इन दोनों व्यक्तित्वों से प्रभावित है। स्वाभाविक रूप से उपाध्याय जी की कविताओं में उनके कवि, आलोचक और उपन्यासकार व्यक्तित्व की छाप है। उपाध्याय जी की छवि बहुपठित परिश्रमी और जागरूक विद्वान की

है। दर्शन चाहे तांत्रिक हो या मार्क्सवादी उनके प्रिय विषयों में रहा है। मध्यकालीन, आधुनिक और समकालीन हिंदी साहित्य पर उन्होंने नयी दृष्टि भी डाली है। उनकी यह बौद्धिकता सर्वत्र शुष्क नहीं है। मार्क्सवाद ने उसे मानवीय भी बनाया है।

उपाध्याय जी कविता अचेत भाव से नहीं लिखते। अर्थात् उनकी कविता हो नहीं जाती, वे कविता 'लिखते' हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि उनका आलोचक अपनी कविताओं का वैशिष्ट्य पहचानने में सचेष्ट रहता है। 'कबंध' की भूमिका में उन्हीं का साक्ष्य लें तो 'मध्यवर्गीय अंतर्द्वंद्व', 'गुरिल्ला चेतना' या 'वर्ग चेतना' तथा 'इशारे, उपालंभ, व्यंग्य और विडंबक वाक्य' इनकी कविताओं की विशेषताएं ठहरती हैं। वे लिखते हैं—"कबंध में भी जनवाणी की कला के सदृश विभिन्न और विचित्र शब्द संयोजन है जो 'कबंध' को मेरी दृष्टि में, प्रचलित या समकालीन अन्य कविताओं में विलक्षणता देता है।" पाठक विस्मित हो सकता है कि कहीं कवि की पक्षधरता सही कविता की न होकर विचित्र और विलक्षण के प्रति तो नहीं? चमत्कारिता का ऐसा पक्ष तो रूपवादी लेता है जब कि उपाध्याय जी रूपवादी कहलवाना पसंद नहीं करेंगे। बात यह है कि रचनाकार केवल वस्तु से संतुष्ट नहीं होता। अभिव्यक्ति में संप्रेषणीयता के साथ साथ उसका निजीपन भी झलके तो क्या ही अच्छा हो! इस विचार से वह रूपगत प्रयोगों में संलग्न होता है लेकिन जैसे ही प्रयोग रचना के अंश में जज्ब होने के बजाय नजर आने लगे वैसे ही चमत्कार सामने आ जाता है और वस्तु गौण बनने लगती है। 'शीतलहर' की रचनाओं में चमत्कार प्रियता के बावजूद वस्तु पक्ष फीका नहीं पड़ा है। 'पूर्वकथन' में उपाध्याय जी के द्वारा अपनी कविताओं पर व्यक्त आलोचकीय विचार देखना समीचीन होगा :

> 'पूर्ववत्' 'शीतलहर' में भी ऐसी रचनाएं हैं जिनमें कवि वैयक्तिक मनोदशा से शुरू करता है और वह निजता स्वतः व्यापक असंतोष, व्यग्रता और दहशत में बदलती हुई समकालीन बिगड़ाव, वैषम्य और विरूपता को ध्वनित करने लगती है।
>
> 'शीतलहर' की कई कविताओं में मैत्री, वर्ग-बंधुता, मुदिता और वर्ग-मारकता की संगति कहीं एक साथ और कहीं पृथक-पृथक हुई है।
>
> 'शीतलहर' में वही पूर्व-प्रयुक्त सामासिक काव्य भाषा या गंगा-जमुनी (कंपोजिट पोयटिक स्ट्रक्चर) भाषा-संरचना है और सायास-अनायास उपलब्ध विचलनों की कला है, जिसमें कई भाषा-स्तरों के विशिष्ट विनियोग हैं।'

वस्तुतः विचलन (डीविएशंस) तथा प्रमुखन (फोरग्राउंडिंग) जैसे शैलीगत तत्व साहित्य मात्र की विशेषता होते हैं। जहां इनके प्रयोग में अति होगी क्या वहां भी इन्हें विचलन कहा जाएगा? अथवा वे अपनी सहज आभा खो देंगे? प्रयोगाधिक्य से सायासता भी जाहिर होने लगती है और साथ ही रचना में एक किस्म की दुर्गमता भी आ जाती है। उपाध्याय जी के आत्म-विश्लेषण के अनुसार, "वस्तुतः मेरी संवेदना की सामुद्रिकता सतहीपन

(सुपरफीशियलिटी) के विरुद्ध संघर्ष करती रहती है। ... कविता सर्वजन तक पहुंचे, यह हो परंतु लोग भी कविता तक पहुंचने का प्रयत्न करें, यह भी कहा जाना चाहिए।"

अर्थात् उपाध्याय जी कविता को, पाठकों की सहृदयता को संस्कारित करने के लिए प्रशिक्षक का दायित्व भी देते हैं। इस तरह अपने कवि की मानसिकता और अपनी कविता के बुनावट-वैशिष्ट्य को भी उपाध्याय जी ने पाठकों के समक्ष रखा है। एक ही व्यक्ति का कथाकार, आलोचक और कवि होना कोई अजूबा नहीं है। हिंदी साहित्य के आधुनिक परिदृश्य में नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. देवराज, शिवचंद्र शर्मा, विश्वंभरनाथ उपाध्याय तथा अन्य कई ऐसे ही नाम हैं और इनकी कविताओं के ऊपरी ढांचे में पाठकों को एक प्रकार का साम्य भी दिखायी दे सकता है। केवल मार्क्सवादी आग्रह ही उपाध्याय जी के कवि को उक्त कवियों से भिन्न करता है। शिवचंद्र शर्मा की कविताएं भी अपनी चिंतनशीलता और अटपटी-औघड़ चालढाल के कारण पाठकों का ध्यान खींच रही थीं। बौद्धिकता, वैयक्तिकता, प्रायोगिकता, गूढ़ता, शब्द-गढ़न आदि विशेषताएं प्रयोग को साध्य मानने वाले नकेन के प्रपघवाद में भी थीं। प्रपघवादी आंदोलन भी परंपरा-गर्भ से नवीनता को हासिल कर लेना चाहता था। समकालीन जटिल परिवेश को शब्द-बद्ध करने के लिए वह नये शब्द ढाल रहा था। मगर उपाध्याय जी की कविता का प्रपघवाद और देवराज आदि की कविताओं से यह समानता केवल रूपगत ही है, वस्तुतः इनकी अंतर्वस्तु में गहरा पार्थक्य है। सैद्धांतिक पक्षधरता और जनता से संवेदनात्मक लगाव ये दो चीजें उपाध्याय जी में अधिक मुखर हैं। कवि की ढलती उम्र की छाप भी कविताओं पर नहीं पड़ी है। थकान और निर्वेद बुढ़ापे की कविताओं के स्थायी भाव होते हैं, मगर उपाध्याय जी की कविताएं इनसे कोसों दूर हैं। उनमें जीवन-संबद्धता की ताजगी और गरमाहट बरकरार है।

मगर इसका अर्थ यह भी नहीं कि 'शीतलहर' की कविताएं हिंदी की समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से सर्वथा अछूती और नयी दिशा का संधान करने वाली हैं। सच तो यह है कि सातवें दशक की हिंदी कविताओं की प्रवृत्तियों से इन कविताओं का अंतरंग और बहिरंग का बहुत कुछ रंगा हुआ है। एक ओर ये कविताएं प्रयोगवादी और नयी कविता में उपस्थित अतिशय आत्मकथ्य और आत्मग्रस्तता का निषेध करती हैं लेकिन दूसरी ओर अकविता के दौर में जिन संभोग दृश्यों तथा यौन बिंबों का खुलकर प्रयोग किया जाता था, उसकी छाप यहां है। खास तौर पर 'नील सरोज' कविता में ये बिंब अत्यंत प्रमुखता से मुखर हैं, फर्क केवल इतना है कि इन बिंबों का इस्तेमाल यहां सामाजिक संघर्ष चेतना के तहत हुआ है अर्थात् सुरा से मृत संजीवनी का काम लिया गया है। 'शीतलहर' की कविताओं में चमत्कार प्रदर्शन की कोशिशें साफ झलकती हैं। तांत्रिक प्रक्रिया की अनेक शब्द-भंगिमाएं उपाध्याय जी की काव्यिक संवेदना के अंग बनकर कविताओं में बार-बार उपस्थित होती हैं। सामुद्रिकता, शव, लाशें, श्राप, यंत्र, तंत्र, मंत्र, मुर्दा, मौत, खून, भैरव, मसान, श्मशान, ऐंठ, चीख, आतंक, जिन्न, भूत, प्रेत आदि अनेकविध चमत्कार लाने की जी-तोड़ मिहनत में लगे शब्द हमें यहां मिलते हैं। कहीं-कहीं नवीन शब्द बनाने की चाह (जैसे 'स्टेथेस्कोप'

के लिए 'कनसुनी') शब्द-मोह से बढ़कर व्यामोह तक पहुंच गयी लगती है। 'कबंध' से यह प्रवृत्ति 'शीतलहर' तक ज्यों की त्यों पहुंची है। उदाहरणार्थः 'इस मुठभेड़ को *अऔरब* नहीं रोका जा सकता, 'या' 'हर एक खुंस को खराद कर *अतिहास* में बदला।' सूक्तिप्रियता और वक्तव्य की सपाटता भी 'शीतलहर' की कविताओं में एक खास सिफ्त की तरह आ जाती है, यथा—"वह सूखा का नहीं, बहस का मारा हुआ था।" या, "हर आदमी आज/दूसरे के लिए प्रक्षेपास्त्र है/और वह निर्देशित है किसी अन्य के द्वारा।"

'शीतलहर' की कविताएं संवेदना की बौद्धिक स्थिति की तरफ इशारा करती हैं। परिणामस्वरूप तीखा व्यंग्य इनका केंद्रीय स्वभाव है। 'अशब्दता' कविता में वार्धक्य की रचनात्मक मुद्राएं हैं। इसमें अंतरिक्ष भौतिकी के बिंब जुटाये गए हैं। विज्ञान और यांत्रिक विषयों के शब्द, बिंब और प्रतीक मदन वात्स्यायन, डॉ. देवराज, गिरिजा कुमार माथुर आदि में हमें मिलते हैं। मदन जी की भांति यंत्र-विज्ञान आदि के प्रति उपाध्याय जी का न केवल सकारात्मक रुख है, अपितु उन्हें रचनात्मक अनुभूति और संवेदना का अंग भी बनाते हैं। *लेकिन यह बात उनकी* 'गति और नियति' जैसी कविताओं के बारे में नहीं कही जा सकती जहां कविता शुष्क वैज्ञानिक शब्दावली के भार से पूरी तरह दबी हुई है।

'उत्तरायण' कविता में वार्धक्य की समृद्धि के बिंब चित्र अपनी मौलिकता में अनूठे हैं। 'न आ सकने पर', 'सोचू की बसयात्रा'—जैसी कहानी नुमा छोटी कविताओं में अर्थ की अन्विति बाधित होती है। कहीं घटना-क्रम में पात्र कथन है तो अचानक कहीं कवि का सीधा हस्तक्षेप। छोटी रचनाओं में भी सपाट, कमजोर, उपदेशात्मक और भरती की पंक्तियां आ घुसने पर खटकने लगती हैं, यथा 'अमलतास', 'युगांत', 'ईहा' आदि कविताओं में। 'दूरभाष' अनिश्चित संवेदना (ओं) को लेकर लिखी गयी कविता है। 'शीतलहर' की कविताएं समकालीन कविता-प्रारूपों से बिल्कुल हटकर हैं, यह मानना कठिन है। अनेक पंक्तियों को पढ़ते हुए मुक्तिबोध अनायास याद आ सकते हैं, यथा—

*कहां है वह हृदय-खूंदक दायित्व*
*पठान से तकाजागीर वे कर्त्तव्य कहां हैं (बोनेलिया)*

अथवा

*वह पथराते शहर में/अपने सरोवर*
*सूखने नहीं देता*
*वह अनवरत स्व संवेदनों को*
*प्रसारित करता रहता है*
*भाव-भूखे केंद्रों की तरफ (संकेत)*

'कबंध' में कवि ने लिखा भी था, ... "मुक्तिबोध और धूमिल के प्रेत-स्कंध उभरते हैं। जिनका सहारा लेकर मैं/आजीवन अगिनबान की तरह/छूटता रह सकता हूं।" (कायाकल्प)

उपाध्याय जी में अक्सर धूमिल और जगूड़ी वाली तुक और कौतुक प्रियता झलक जाती है। मगर अनगढ़ता, भदेसपन और ठेठ व्यंग्यभाव उपाध्याय जी की कविता में अपनी खासियत है। 'समाचार' कविता में तथाकथित सभ्यता की प्रगति पर सटीक व्यंग्य है। भाषा की वक्रता की दृष्टि से 'अड़दब' कविता में उपाध्याय जी के अपने काव्य-स्वभाव की पहचान चमक उठी है—

*परजीवी भद्र समाज/सिर्फ संकेत सह सकता है*
*और आप तो गोपनीय पर*
*गदा की तरह चल रहे हैं*

'वह' कविता व्यक्ति-विशेष पर (सफल?) व्यंग्य कही जा सकती है यद्यपि एकाध जगह प्रहार अत्यंत व्यक्तिगत स्तरों को छूता है—"गरम तवे पर तले जा रहे लोगों को। अस्ति-नास्ति समझा रहा है/दीपों की पंक्ति में, दिये की तरह/अपने को दे देने के लिए/औरों से अनुरोध कर रहा है। और इस सुखद आत्मदान की दुंदुभी पर/दिव्य स्वर निकालता हुआ। किसी लाला की लोलिता में स्थितप्रज्ञ/निष्कंप दीपशिखा-सा एकटक हो जाता है/...त्रिशंकु सा टंगा है वह तृष्णाकाश में .../वह आंगन के आर-पार/रहस्यों का रेवतीरमण/किमाकार है कला और करतूतों में/उसमें अमरता की तृषा/और तात्विक तस्करता है ... ।"

ज्यादातर रचनाओं में कविता की संवेदना अक्सर कवि के अनुप्रास-लोभ की शिकार हो जाती है। उपाध्याय जी की काव्य-भाषा ऊबड़-खाबड़ है—यह विशेषता जहां उनकी पहचान है, वहीं सीमा भी। शब्द-प्रयोग यहां अलग से चमकते हैं और आंखों को हमेशा सुखद नहीं लगते, चुभते भी हैं। यह चुभन और रगड़ पैदा करना कवि का काम्य भी हो सकता है। अनुप्रासात्मक शब्द चमत्कारों के प्रयोग तो अनगिनत हैं, कुछ का मुलाहिजा करें—

*काश, इस कसाई खाने में / कोई कोकिल की कूक सुनता*
*कोई कीटनाशक कृति होती / कोई विषाणु वेधक कला*
*भव्य होता कोई इन भूतों के मध्य / फिलहाल इस मरेपरे मनुलोक में*
*मेढ़क के मानिंद / प्रतिष्ठित हो जाओ पंक में ...*

इन प्रयोगों में सायासता जाहिर होती है यथा—चिरचिटे सा चिपटकर, पराजित पलीते सा, हठ की हवि, दही के दहान में, हमदर्द हाय, दुश्मनदीदों का दबदबा, तर्क से तमक देकर, हांफ रही हयात, जलवे से जकड़ी जुबान, गरिमा और गुरूर में गड़के, गूंजों और गुंजारों को गठिया हो गया, दादागीर दबंगता आदि। यह सूची बेहद लंबी है और इसे प्रस्तुत करना समीक्षा को मोटा बनाना होगा, अतः छोड़ा जा रहा है। इन्हें पढ़ते हुए रामवृक्ष बेनीपुरी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह और शिवपूजन सहाय की अनुप्रासमयी गद्य शैली का ध्यान हो आता है। एक जमाना गुजर गया और हमारे लेखकों-कवियों ने अनुप्रास-शैली को भुला दिया। उपाध्याय जी उसे साहित्य में फिर से स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं, ऐसा लगता

है। उनकी कविताओं में शायद ही कोई अनुप्रासहीन पंक्ति हो।

'शीत लहर' में तीस कविताएं हैं और इन तीसों कविताओं में कवि ने अपने समकालीन परिवेश को कमोबेश अपनी चिंता के केंद्र में रखा है। कहीं-कहीं अपने वातावरण को वह अकविता की शैली में व्यक्त करता है—कवि पाता है कि "इस विरुद्ध वातावरण में/अकारण अवसाद के क्षण में/कोई उपलब्ध नहीं/कोई शब्द नहीं।" (अशब्दता) मगर उसकी असहायता की मुद्रा स्थायी नहीं। वह अपनी परिस्थितियों का विश्लेषण करता है। परिस्थितियों के डंक के तेज जहर में छटपटाकर मर जाना उसकी नियति नहीं हो सकती। वह उपचार की तलाश करता है। इस तलाश में वह बहुतों को देह की नग्नता में दफन होते देखता है—"लोग, समाज नाम की वस्तु से ऊब गये हैं/बिफर कर देखना चाहते हैं। शायद आदिम होने से/आदमीयत बच जाए।" (अपरिचय) किंतु, कवि की अपनी रचनात्मकता की इच्छा परिवेश और वय की तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद उसमें अंगड़ाई लेती है और वह समृद्ध बिंबों की रचना करने लगता है :

*सन्नाटे को चुप चाप आता हुआ देखकर*
*मुझमें किसी मछली ने उछाल भरी है*
*फिर चांदी की कतरन सी*
*गिरी है मेरे नीलम में अपने को जड़ने के लिए*
*हवा का झोका किसी तरन्नुम सा उठा है*
*और मथ रहा है राग को मुझमें*
*अनंतलोचन आकाश*
*एक चंद्रमा निकालता है। (अंतरायण)*

कवि अपने विरुद्ध परिवेश को बदलने में दूसरों के साथ शरीक होने की कामना करता है क्योंकि वह जानता है कि "कोई भी प्रतिकूल व्यूह। भस्म हो सकता है। सम्मिलित वज्रपात से।" (बीजक) वह उन लोगों पर व्यंग्य करता है जो योनिकीट बोने लिया की भांति अपनी 'आधुनिकता' की आबेधता में योनि में ही जनमते, जीते और अपने बीज छोड़कर मरते रहते हैं। जिस 'शीतलहर' में सारा परिवेश थरथरा रहा है उससे मुक्ति का उपाय सिगड़ी सुलगाना हो सकता है, या

*कुछ न हो सके/तो, जेबों से मुक्तकर/हाथ ही मिलाओ*
*बिजली सी कौंध जाएगी/शीत फुर्र सा उड़ जाएगा*
*वसंत की सुधि आएगी!! (शीतलहर)*

'शीतलहर' की कविताएं वातावरण की श्मशानता के विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद व्यक्त करती हैं। श्मशान की भयावहता को शब्दित करने में कवि कोताही नहीं करता। कहीं वह थोड़े-से शब्दों में सशक्त बिंब-संकेत रच देता है तो कहीं चीखते शब्दों को मुखर बनाकर वातावरण

की विडंबनाओं को जाहिर कर देता है—

*अभी अभी जो चिड़िया फुर्र से उड़ी थी*
*चीखती हुई/उसने अपने घोंसले में*
*किसी नाग को देखा है। (युगांत)*

कवि को 'विकट सूखा में समाप्त होता हुआ सरोवर' चिंतित और दुखी करता है और वह ''उथलेपन के विरुद्ध लड़ती गहराइयों की दुहाई देता है, इतना ताप कोई कैसे सह सकता है/इतना दहन/यहां तपाने को सभी सूरज हैं/कोई घटा हस्तक्षेप नहीं करती ... दुहाई है। इन दिवास्वप्नों की /इस स्वचेत्तना की/कि मैं अभी हूं/कोई है जो बचे हुए को बचा ले?'' (अवशेषेच्छा)

कवि केवल जुबानी बही-खाते में विश्वास नहीं रखता। लोगों से जुड़ने की उसकी इच्छा भी केवल दिमागी जमा-खर्च नहीं है। वह जानता है कि वास्तविक संघर्ष से दूरी बनाकर अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः वह घोषित करता है—

*सामने भट्ठे-जल रहा है समाज/सौंप रहा हूं अपने को*
*उसकी आग की जीभें/सलामत रखने के लिए। (रूपांतरण)*

इस भट्ठे की आंच में ही उसके व्यक्तित्व का सही रूपांतरण होता है और वह संतुष्ट महसूस करता है कि मैं स्वयं अपने दाह में पकता हुआ/अग्नि का सही संयोग पा गया हूं। इन कविताओं में बड़बोलापन नहीं है, पर शब्दों की मुखरता एक अतिरिक्त आत्मविश्वास के कारण अवश्य है। संग्रह की आखिरी कविता है ('व्यक्ति') कवि की अपनी कविताई पर की गयी टिप्पणी भी है। उसे अपनी कविता के तथाकथित निजीपन पर नाज है। उसे लगता है कि उसका 'सरलीकरण' नहीं हो सकता। उसकी कविता 'कहावत' की भांति आम नहीं है, यह ऐसा 'कूट' है जिसे हरकोई 'अर्था' नहीं सकता। ऐसे समानधर्मी आलोचक-पाठक की प्रतीक्षा में वह भवभूति की भांति घोषणा करता है—

*कोई कहीं होगा/जो आपके स्वगत को/सर्वगत करेगा*
*तब अपनी असली पहचान/होने पर/आपको कुतूहल होगा*
*अपनी गांठ-गंठीली संकुलता पर/आपका स्पष्टीकरण संभव नहीं।*

फिर भी डॉ. उपाध्याय के आलोचक ने उदारतापूर्वक उनकी कविताओं पर भूमिका स्वरूप स्पष्टीकरण दिए हैं, जिनसे चाहे हम सहमत न भी हों मगर उनकी सदाशयता मानकर उन्हें ग्रहण करना चाहिए।

डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय जीवन के अनगढ़ यथार्थ के, पुरुष के और पौरुष के कवि हैं। उनकी कविता की जमीन में सख्त चट्टाने हैं, झाड़-झंखाड़ हैं, रेतीली ढूहें हैं और बहुत पतले सोते भी हैं। यहां दोपहर की धूप के समान यथार्थ की ऊर्जस्वित तीक्ष्ण

अभिव्यक्ति है, व्यंग्य-बिजली का कड़क प्रहार विशेष रूप से है। 'शीतलहर' की कविताएं उपाध्याय जी की जीवन-संबद्धता से जनमी हैं और जन-जीवन का पक्ष लेकर केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही नहीं, अनुभूति के स्तर पर भी खड़ी होती हैं और इसी बात में उनकी सार्थकता है।

## उत्पाती शनिपुत्र

# आत्म साक्षात्कार की सामाजिकता

### कुसुम चतुर्वेदी

आत्मकथा सत्य के करीब होती है। अभिव्यक्ति की ईमानदारी और मन की सफाई इसकी शक्ति होती है। जिस प्रकार जंगल में कलम किए हुए पौधे नहीं उगते, उसी तरह आत्मकथा में रोपण-प्रत्यारोपण नहीं होता। बर्मा के पूर्व प्रधानमंत्री ऊ नु द्वारा लिखित जीवनी *उत्पाती शनिपुत्र* आत्म साक्षात्कार का सामाजिक दर्पण है—जहां जीवन की प्रतियोगिता में जिजीविषा अंतिम धुरी तक सब कुछ पा लेने और कुछ दे देने की अदम्य जिज्ञासा लिए सांस खींच दौड़ती है, इस क्रम में गिरती है, फिर उठती है। जीवनी में यह दौड़ सहज स्वाभाविक रूप से बिना लाग-लपेट, धुंआ और आग दोनों के बीच उभरी है। स्थितियां पारदर्शी हैं, भोक्ता स्वयं साक्षी है। कर्म के अंतरंग से असली ऊ नु बोलता है। राजनीतिक-सामाजिक अनुभवों के साथ अपनी त्रुटियों, अहंता, दुर्बलता और पश्चाताप का निश्छल आलेख सामाजिक अस्तित्व की अस्मिताओं के प्रति अर्थवान है। स्वाधीनता के पूर्व और उत्तरकालीन बर्मी इतिहास का प्रस्तुतीकरण स्वतः होता चलता है। इस प्रकार की आत्मकथा हर देश का प्रधानमंत्री देता चले तो राजनीति से जुड़े लोग कालक्रम के परिवर्तनों के बीच बहुत कुछ ग्रहण-त्याग कर सकते हैं। श्री चंद्रप्रकाश प्रभाकर ने आलोच्य पुस्तक का हिंदी अनुवाद करके अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किया है। उनके इस कथन से सहज ही सहमत हुआ जा सकता है कि—*यह आत्मकथा संत ऑगस्तीन और रूसो द्वारा अपनी त्रुटियों को स्पष्ट रूप से स्वीकार करने की परंपरा की ही एक और कड़ी है जो संसार की दस सर्वश्रेष्ठ कृतियों की सूची में शामिल किए जाने का दावा कर सकती है।*

लोकतंत्र की जड़ें किसान-मजदूरों की जमीन से पुख्ता होती हैं। औपनिवेशिक गुलामी ने जान-बूझकर अशिक्षा, कुपोषण, अंधविश्वास और गरीबी में इन्हें फंसा रखने का दुश्चक्र रचा। ऊ नु ने उन कारणों का सटीक विश्लेषण किया है जिनके तहत 1949 में कम्युनिस्ट नेताओं की सत्तालोलुपता ने जन-जागृति छोड़, सेना और पुलिस का आधार लिया। जिस

किसी भी देश में गैर-राजनीतिक सैनिक शक्ति ने राजनीतिक सत्ता छीनी है तो सैनिक अधिकारियों का मनोबल इसी तरह बढ़ाया गया है। इन पृष्ठों में ऊ नु की पीड़ा, बेबसी और झुंझलाहट बिजली-सी कौंधती है जहां एक ही ब्रिगेड बच जाने पर जनरल नेविन् को उप-प्रधानमंत्री बना देने का विवरण दिया गया है। जन-आंदोलन राष्ट्रीय भावात्मक एकता से पहचाना जाता है किंतु अलगाववाद धर्म, जाति और संस्कृति की गलत व्याख्या से उत्पन्न होता है। कम्युनिस्ट विद्रोह की आंधी में शामिल अलगाववादी क्रिश्चियन को शांत करने में बर्मी क्रिश्चियन मिशन ने ऊ नु को पूर्ण सहयोग दिया।

कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, धर्म, अंधविश्वास-निवारण, सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीयकरण में निहित सरकारी विसंगति को इस जीवनी में अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। ऊ नु सरकार में किसान मजदूर संगठन तथा समाजवादी नेता शामिल हैं। वामपंथी एकता समिति के सदस्य स्वयं ऊ नु हैं जिसके अनुसार पंद्रह सूत्री वामपंथी नीति देश के लिए निर्धारित की गई है। पूजा, ध्यान, मंत्र जाप आदि के उल्लेख संदेह पैदा करते हैं कि ऊ नु शायद प्रतिगामी शक्ति से उत्कंठित हैं किंतु गहरे परिदृश्य का आकलन स्पष्ट कर देता है कि उनके लिए धर्म एक सकारात्मक उपकरण है, थकान मिटाने का एक बहाना है। ऊ नु ने उन बौद्धधर्मियों का क्षोभ और ग्लानि से उल्लेख किया है जिनके विरोध के कारण स्कूलों में बौद्धधर्म के साथ ईसाई और इस्लाम धर्म की शिक्षा की योजना रद्द करनी पड़ी और उस मुसलमान भाई को प्रेम से याद किया है जिसने विरोध शांति के लिए उसे रद्द करने की सलाह दी। ऊ नु के पहले त्यागपत्र के कारणों में यह एक प्रमुख कारण है। धर्म के विषय में उनके विचार निरीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार कोई ईश्वर या गॉड नहीं है। देवता, ब्रह्मा आदि नामधारी जीव हैं जो सृष्टि के बाद पैदा हुए और उपदेश देकर इनका उद्धार करने का दायित्व उस मनुष्य का है जो बुद्ध की तरह 'भगवान' बन जाने की गुणवत्ता में व्यवहृत करता हो। भगवान बनने की अभिलाषा वस्तुतः उनके मौलिक होने की वह खोज है जो व्यभिचारजन्य रोग, चोरी, झूठ और अनर्गल क्रोध का दस्तावेज समाज के सामने प्रस्तुत करने का अनुशासन देती है और अंतर्राष्ट्रीय मैत्री के परिप्रेक्ष्य में देश के सामाजिक एवं आर्थिक उत्कर्ष एवं अंतर्विरोधी धाराओं में संतुलन स्थापित करने के प्रयासों का उपक्रम बनती है। उनका यह कथन कि *तथागत की मूर्तियों की पूजा करते समय वह पूजा पत्थर की मूर्ति या लकड़ी की मूर्ति की पूजा न होकर तथागत के अनंत गुणों की, उनके उपदेशों की पूजा की जाती है,* आज धर्म-विवाद से ग्रस्त किसी भी समुदाय की मानसिकता के लिए प्रासंगिक है। ऊ नु किसी मंदिर या मूर्ति की स्थापना के कर्मकाण्ड से नहीं जुड़ते बल्कि गोलीबारी और ट्रेंच खोदने की मनाही से अहिंसा, प्रेम, करुणा की गुणीभूत शक्ति का परिचय देते हैं। कहीं-कहीं यह संवेदनशीलता उनसे छल भी करती है। बर्मा की मधु-भयावह वनश्री, नदी-नाले के उच्छल-क्षीण सौंदर्य, व्यापक आकाश और सुंदर युवतियों के शीतल-उष्ण स्वरूप के प्रति मुग्ध होने की क्षमता से उद्वेलित संवेदना ने ही ऊ नु को बचपन से नाटक कथा लिखने की प्रेरणा दी है। जीवनी के संवाद-स्थल नाटककार ऊ नु का स्मरण दिलाते हैं।

जीवनी का सर्वोत्तम अंश वह विवरण है जिसमें ऊ नु अपने मंत्री ऊ चौं येः के साथ अपने मतभेदों का निरीक्षण करते हुए पार्टी-विभाजन के लिए स्वयं को ही जिम्मेदार मानते हैं और इस दुर्घटना के बाद भी ऊ चौं यें : को एक मामले में निर्दोष साबित करने के लिए अपने आदेश के हवाले से गवाही देने को तत्पर होते हैं। क्रोध शांत हो जाने के बाद वे उनके घर जाकर सब कुछ भूल जाने की प्रार्थना करते हैं। पार्टी विभाजन की परिणति अंततः विजयी दल होने के बावजूद सैनिक शासन में हुई जिसे ऊ चौं यें: आदि विपक्षी नेताओं ने प्रोत्साहन दिया। सलाम या पगड़ी जैसे अंग्रेजी रीति-रिवाज का खण्डन करने के जोश में वे प्रिंसिपल का विरोध करने की बात करते हैं, सामाजिक अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने के लिए जेब में पड़ी माला छोड़ देते हैं। इन और ऐसे तमाम्म अवसरों पर ऊ नु के क्रोध में रचनात्मक संघर्ष और सृजन-पीड़ा है किंतु फा.सा.पा.ला. पार्टी के क्रीन और स्टेबल दलों में पैठा हुआ क्रोध वेग अतीत होकर भी त्रासद राजनीति के सैनिक दौर का शिकार हो वर्तमान बनकर रह गया है। ऊ नु का यह आत्म-विश्लेषण पीढ़ियों के लिए सारगर्भित संभावना देता है—जबर्दस्ती करने वाले ऊ नु से गलतियां होने लगीं ... ऊ चौं येः का पत्र पढ़ने बाद ऊ नु ऐसा भी कर सकते थे कि ऊ चौं येः को बुलाते, हमेशा जैसा ही कहते—"क्या बकवास लिख भेजा है। बच्चे अपना खत वापस ले जा", अगर वे ऐसा करते तो बहुत संभव है पार्टी का विभाजन नहीं होता परंतु ऊ नु ने ऐसा नहीं किया। "यह व्यक्ति कभी-कभी बहुत टेढ़ा दीखता था।" इस उक्ति में प्रेम-विश्वास के साथ अहं की सहज स्वीकृति है। अपनी गलती को अतिरंजित और दूसरे को कमतर कर के देखने की ऊ नु की प्रवृत्ति सर्वत्र है। फिर इस बार तो ऊ चौं येः वास्तव में आहत थे क्योंकि 1956 में प्रधानमंत्री पद छोड़ते समय ऊ नु ने ऊ चौं यें: को भी मंत्री पद से हटाकर अपने साथ उपाध्यक्ष बनाकर संगठन में ले लिया था। ग्लानि की चुभन व्यक्तित्व के इस तुलनात्मक परिचय में अपनी छाप छोड़ती है—जिस तरह ऊ नु के मन में यदि कोई पागलपन आ जाए तो उस कार्य को बिना सोचे समझे जबरदस्ती करने की प्रवृत्ति रखते थे उसी तरह ऊ चौं येः में भी एक बुरी आदत थी। जब किसी से झगड़ने की बात आती तो जरूरत से ज्यादा चिंताग्रस्त हो जाया करते थे। इसकी व्यंजना सत्ताधारियों के द्वार पर दस्तक है।

जनरल नेविन् के आक्रामक रवैये के उत्तर में ऊ नु कुछ ही समय बाद पुनः प्रधानमंत्री हो गए और ऊ चौं यें: सहित सभी समाजवादियों को सरकार में ले लिया। संगठन की फूट का इस्तेमाल अपने हित में करने की कला राजनीतिज्ञों के ज्ञान-कोष में लिखी होती है। "प्रभावी राजनीतिज्ञों के संरक्षण के कारण बहुत के खिलाफ अधिकारीगण कानूनी कार्यवाही करने में असमर्थ हैं।" इस रिपोर्ट के बाद ऊ नु हर कसूरवार को पकड़कर कार्यवाही करने के आदेश देते हैं तो गृहमंत्री ऊ चौं यें: के चेलों के अधिक दूसरे मंत्रियों के शिष्य एक गिरोह से पकड़े जाते हैं। इन मंत्रियों को विश्वास है कि गृह मंत्रालय और सेना के प्रभाव का यह नतीजा है। इससे भी आगे खुले भाग में इनके आदमियों को डाकू कातिल आदि उपाधियां दी जाती हैं। किसी देश में भ्रष्टाचार पनपने का सही इतिहास ऊ

नु के इस विवेचन में मौजूद है। ऊ नु जिस दल में शरीक होते हैं उसके लिए उन्होंने चार नियम बनाए—शराब नहीं पीयेंगे, घूस नहीं लेंगे, जुआ नहीं खेलेंगें और वेश्वावृत्ति नहीं करेंगे। आचरण की ये विकृतियां जनकल्याण के कार्यक्रमों की गति धीमी करती हैं इस तथ्य को प्रायः हर देश स्वीकार करता है। किंतु इन नियमों के अनुपालन पक्ष पर कोई प्रकाश जीवनी में नहीं डाला गया।

इमरजेंसी लगाकर बजट पास करवा लेने से असंतुष्ट स्टेबल दल ने देश की सत्ता संभालने की प्रार्थना सेना से की और ऊ नु ने जनरल नेविन् को सत्ता सौंप दी लेकिन इस एक शर्त के साथ कि वे छः माह में नया चुनाव करा लेंगे। विकृत सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न परजीवी संस्कृति का यह भी एक अच्छा उदाहरण है कि पूर्व प्रधानमंत्री ऊ माश्वे और पूर्व गृहमंत्री ऊ चौं येः जैसे सुयोग्य नेताओं के रहते स्टेबल दल ने आत्म विश्वास और साहस के साथ स्वयं सत्ता लेने के बजाय सेना को सत्ता हड़प लेने की राय दी। जनता से कटी हुई ऐसी आत्म-विसर्जित दृष्टि दूसरे देश के लिए कतिपय उदाहरणों को अंजाम देती प्रतीत होती है। एक बार आसानी से शीर्ष सत्ता का स्वाद चख लेने के बाद महत्वाकांक्षी सेना ने यदि तीन वर्ष पर फिर उसी सत्ता को धोखे से छीना तो इसमें राजनीतिज्ञों के अधोधर्मी जीवन मूल्यों की परख अपेक्षित है। इस संदर्भ में ऊ नु का यह विवेचन महत्वपूर्ण है—राजनीति में सेना से सहायता लेना राजनीति को फांसी लगाने के समान है। स्टेबल पक्ष के लोगों ने क्या यह निर्णय कर लिया है कि वे भविष्य में राजनीति नहीं करेंगे।

इसके बाद के अंश में ऊ नु ने संभवतः बहुत कांट-छांट की है। तथ्यपरक घटनाएं हैं किंतु विश्लेषण का अभाव है। छः माह से कुछ अधिक समय लेकर 1960 में आम चुनाव हुए। ऊ नु 'जबरदस्त जीत' के साथ प्रधानमंत्री बने। 'अब तक उनके विचारों में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया था। उनके मन में विचार उठा कि उनके नेतृत्व और उनकी पार्टी पर से विश्वास उठ जाने पर जनता ने जो उन्हें सत्ता दी है यदि उस सत्ता को अन्य चुनाव के माध्यम से वह वापस ले लेती है तब उनकी पार्टी विपक्षी दल के रूप में बैठा करेगी। और तब जो पहले विपक्षी दल वाले थे अब सत्ताधारी दल होंगे। तब उनका व्यवहार विपक्षी दल के प्रति कैसा रहेगा? वह हर कीमत पर सम्मानजनक होना चाहिए। 'ऊ नु के इस विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि वे संसदीय लोकतंत्र के स्थायित्व के प्रति आश्वस्त हैं। इस आश्वस्ति को निरंतरता देने के लिए सर्वप्रथम उन्होंने 'तराजू का एक पलड़ा भारी रहने की बात ठीक की।' संसद की समितियों में विपक्षी सदस्यों को बराबर रखा। तीनों बड़ी राजनीतिक पाटियों के दो-दो सदस्यों को मिलाकर एक समिति बनी जिसने सरकार द्वारा छः सूत्री कार्यक्रम लागू करने का निश्चय किया। इस कार्यक्रम को ऊ नु ने स्वीकार किया। पहले 'लोकतांत्रिक-विचार-प्रसारण समिति में केवल मंत्री, अध्यक्ष, सचिव जैसे लोग होते थे। अब इसे अलग पूर्णकालिक संस्था बनाकर एक करोड़ रुपये के प्रावधान और मित्र संविधान का प्रस्ताव उन्होंने किया।' देश की एकता सुदृढ़ करने के लिए 'सबको समान अधिकार' देने की बात पहले भी कई बार ऊ नु के दिमाग में आई थी। इसके लिए

संविधान में परिवर्तन आवश्यक था। टाऊं जी सभा में प्रदेशों के अध्यक्षों ने 'फेडरल सिद्धांत' का विचार रखा किंतु यदि यह स्वीकृत न हो तो भी वे असंतुष्ट न होंगे यह आश्वासन भी उन्होंने दिया। उक्त मुद्दों पर विचार-विनिमय हेतु 9 मार्च, 1962 को प्रथम अधिवेशन रात तक चलता रहा और उसी रात प्रधानमंत्री ऊ नु सत्ताच्युत हो कैद कर लिए गए। जनता की प्रतिक्रिया अथवा कोई टिप्पणी इसके आगे उल्लिखित नहीं है। विपक्षी दलों की सम्मानप्रद पद स्थिति, समान अधिकार और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रयासों से देश की हालत किस तरह बिगड़ गई, इस प्रश्न को समझने के लिए देशी-विदेशी ताकतों के तरीके और आत्म-निर्णय की भटकी दिशाओं पर गहन विचार अपेक्षित है। 1988 में अनुवादक द्वारा लिए गए साक्षात्कार में देश के अंदर आंदोलनरत ऊ नु का काल से होड़ लेता व्यक्तित्व उभार पर है। बंदी या निष्कासित जीवन की चोट कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रभाकर जी की सूचना के अनुसार शायद इस आत्मकथा का दूसरा भाग भी लिखा गया होगा। उसकी उपलब्धि का जोड़ महत्वपूर्ण होगा।

यह जीवनी संग्रहणीय है। इसमें मैं शैली का त्याग स्वाभिमानपरक है। पुस्तक शोध छात्रों के लिए अत्यंत उपयोगी है। नव-उपनिवेशवाद का मुकाबला करने के लिए इसकी सार्थकता निश्चित है। इस प्रकार के अनुवाद परस्पर राष्ट्रीय भावनात्मक एकता के लिए भी अभिनंदनीय हैं। □

## सत्यजित राय का सृजन

# साहित्य और सिनेमा

डॉ. विजय अग्रवाल

पुस्तक *सत्यजित राय की कहानियां* में कुल बारह कहानियां हैं जिनमें से अंतिम तीन कहानियों में उनके प्रसिद्ध जासूस फेलुदा (प्रदोष मित्तिर) हैं। पहली कहानी *प्रोफेसर हिजबिजबिज* एक वैज्ञानिक की कहानी है, जिसके नायक तो हालांकि उनके प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर शंकू तो नहीं हैं, किंतु उनकी झलक उसमें अवश्य है। *सदानंद की छोटी दुनिया* कहानी को छोड़कर शेष सभी में रहस्य, रोमांच और आश्चर्य का ऐसा संतुलित मिश्रण है, जो पाठक को अंत तक बांधे रहता है।

सत्यजित राय को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति फिल्मों के लिए मिली, लेकिन उनका साहित्य उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनके साहित्यकार ने उनके फिल्मकार को संवेदना और संस्कार दिए तथा उनके फिल्मकार ने उनके साहित्यकार

को वर्णन की दृश्यात्मक शैली दी। उनके फिल्म और साहित्य में अनेक ऐसे संधि स्थल दिखाई पड़ते हैं, जहां दोनों विधाएं एक दूसरे के पर्याय मालूम पड़ती हैं। अपनी उसी क्षमता के कारण उन्होंने या तो रवींद्रनाथ टैगोर, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, प्रेमेंद्र मित्र, सुनील गंगोपाध्याय एवं प्रेमचंद जैसे प्रख्यात साहित्यकारों की रचनाओं पर फिल्म बनाई या फिर स्वयं की रचनाओं पर। पटकथा तथा संवाद लेखन का कार्य तो वे स्वयं ही करते थे।

राय अचानक ही साहित्यिक नहीं हुए थे, बल्कि यह उनके संस्कारों में जन्म से ही बीज रूप में विद्यमान था, जिसने बाद में वृक्ष का रूप लिया। उनके दादा उपेंद्र किशोर राय चौधुरी भारतीय आख्यानों के सुपरिचित लेखक थे। बाद में सन् 1968 में राय ने अपने दादा की मूल रचना *गुपीगाइन बाथाबाइन* पर उसी शीर्षक से फिल्म भी बनाई, जिसने उन्हें किशोरों के बीच रातो-रात लोकप्रिय बना दिया। इससे प्रभावित होकर उन्होंने अपनी ही कहानियों *सोनार केल्ला, जयबाबा फेलुनाथ, हीरक राजर देश, और पीकू* जैसी फिल्में बनाईं। राय के पिता सुकुमार राय ने भी स्कूल जाते बच्चों के लिए कौतुक भरी कविताएं और कहानियां लिखी थीं।

हालांकि राय की पहली अंग्रेजी कहानी *आब्सट्रक्शन* सन् 1941 में प्रकाशित हुई थी, किंतु उनके लेखन की सही शुरुआत छठे दशक के मध्य में ही हो सकी। वे विशेषकर बच्चों के लिए साहित्य की आवश्यकता का अनुभव करते रहते थे। इसके लिए उन्होंने सन् 1961 में कवि सुभाष मुखोपाध्याय के साथ मिलकर *संदेश* (एक बंगला मिठाई का नाम) पत्रिका का फिर से प्रकाशन शुरू किया। इसी समय उन्होंने रवींद्रनाथ (जिनकी जन्म शताब्दी की धूम थी) की तीन कहानियों—*पोस्टमास्टर, मणिहारा* और *समाप्ति* पर आधारित *तीन कन्या* फिल्म बनाई। इस फिल्म के निर्माण के दौरान बच्चों का संपर्क उन्हें उनके मनोभाव को समझने में काफी सहायक रहा, और इस प्रकार राय पूरी तैयारी के साथ कहानी लेखन के क्षेत्र में आए। उन्होंने कहा था कि *जब भी मैं बड़ों के लिए सोचता हूं, तो फिल्म के रूप में सोचने लगता हूं।* इसलिए उन्होंने बड़ों के लिए फिल्म बनाई, कहानियां नहीं लिखीं। यह बात अलग है कि उनकी कहानियां उत्सुकतावश बड़ों के द्वारा भी पढ़ी और सराही गईं।

सत्यजित राय की कहानियों की तीन मुख्य धाराएं कही जा सकती हैं। इनमें से पहली धारा में वैज्ञानिक कहानियां हैं, जिसके नायक भारत के वैज्ञानिक प्रोफेसर शंकू हैं। इन कहानियों में प्रोफेसर शंकू के कार्यों का चित्रण अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में हुआ है। दूसरी धारा जासूसी कहानियों की है। प्रो. शंकू की तरह ही इस धारा की कहानी के नायक हैं—प्रदोष मित्तिर, जो फेलुदा के नाम से लोकप्रिय हैं। इनके सहयोगी के रूप में आते हैं तोपसे और जटायू। तीसरी धारा में उनकी शेष स्वतंत्र कहानियां हैं। इस पुस्तक की कहानी *सदानंद की छोटी दुनिया, रतन बाबू और वह आदमी, बारीन भौमिक की बीमारी, तथा भक्त* इसी धारा की कहानियां हैं।

राय की वैज्ञानिक कहानियों के नायक प्रो. शंकू तथा जासूसी कहानियों की विलक्षण प्रतिभा और तीक्ष्ण सूझबूझ वाले जासूस फेलुदा को अत्यंत लोकप्रियता मिली। वस्तुतः इन

दोनों पात्रों की रचना राय ने अपने पूर्ववर्तियों का अनुसरण करते हुए की। इससे पूर्व प्रेमेंद्र मित्र के *धनादा,* नीहार रंजन गुप्त के *किरीट,* शरदिंदु बंद्योपाध्याय के *व्योमकेश बक्शी* (दूरदर्शन पर दिखाया गया धारावाहिक), समरेश बसु के *गोगोल* (नन्हा जासूस) तथा अद्रीश वर्द्धन के *प्रोफेसर नट बोल्ट* आदि पात्र स्थापित हो चुके थे। इन्हीं की तर्ज पर सत्यजित राय ने दो स्थायी नायकों की सर्जना की। जहां वैज्ञानिक कथामाला का नायक *प्रो. शंकू* अपनी वैज्ञानिक खोजों से पाठकों को चमत्कृत करता रहता है, वहीं जासूसी कथामाला का नायक *फेलुदा* अलौकिक एवं मानवीय सत्ता के रहस्यों का भेदन करके पाठकों को आश्चर्य में डाल देता है।

सत्यजित राय के इन अलौकिक प्रतिभा से संपन्न पात्रों की दो प्रमुख विशेषताएं हैं, और उसे उनकी कहानियों में भी महत्वपूर्ण विशेषताएं कहा जा सकता है। पहला है—इन चरित्रों में मानवीय सुलभ गुण-दोषों का होना तथा दूसरा उनका मानवतावादी होना। महान वैज्ञानिक प्रोफेसर शंकू में वे सभी गुण और दोष हैं, जिनके लिए एक आम बंगाली व्यक्ति जाना जाता है। इनके पड़ोसी अविनाश बाबू बिना किसी कारण के जब तब प्रो. शंकू को अपने कौतूहल भरे प्रश्नों से परेशान करते रहते हैं, और प्रो. शंकू रत्ती भर भी विचलित हुए बिना उसके समाधान में लग जाते हैं। उनका दिमाग एक प्रकार से अविष्कारों का कोष है। इस मामले में प्रो. शंकू का चरित्र राय के पिता सुकुमार राय के पात्र हेसोराम होशियारी से मिलता है। इसके अतिरिक्त इसकी प्रेरणा सत्यजित राय ने अपने पिता के ही एक अन्य पात्र निधिराम पाटकेल से भी ली। दोनों ही पात्र अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में अजीबोगरीब चीजों कुकुरमुत्ता, सांप की केंचुली तथा कछुए के छिलकों आदि से प्रयोग करते रहते हैं। विवेच्य पुस्तक की कहानी में हालांकि प्रो. शंकू तो नहीं हैं, किंतु प्रोफेसर हिजबिजबिज भी उसी की तरह ही हैं, जो विभिन्न प्राणियों के अंगों को आपस में जोड़कर एक नया प्राणी बनाने में लगे हुए हैं।

जहां तक प्रो. शंकू के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रश्न है, उनके आविष्कारों में एक भी मारणशस्त्र नहीं है—एनाहिलीन को छोड़कर। और इस एनाहिलीन का प्रयोग भी आत्मरक्षा के लिए किया गया है। इस तरह प्रो. शंकू अपने अजीब-अजीब प्रयोगों और आविष्कारों के माध्यम से विश्व को शांति का संदेश देने वाले मालूम पड़ते हैं।

सत्यजित राय का दूसरा अत्यंत लोकप्रिय पात्र जासूस फेलुदा अपनी सहज एवं सादगी भरी उपस्थिति से अचानक कथा के केंद्र में आकर नायक बन जाता है। इस श्रृंखला की कहानियों में वे तमाम रहस्यपूर्ण घटनाएं हैं, जो इतिहास, पुराण और गाथाओं में मौजूद हैं। बड़े-बड़े शहर, बंदरगाह, पर्वतीय स्थल, पुरानी रियासत और जमींदार, दरबारी माहौल तथा कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में योगदान करने वाले व्यक्तित्व इनके पात्र हैं। लेकिन अचानक ही पता चलता है कि इस पृष्ठभूमि में कुछ लोग हत्या, षड्यंत्र, धन हड़पने तथा चोरी करने जैसे कार्यों की ताक में हैं। इससे पहले कि ये विकृत तत्व सफल हों, फेलुदा उनका भंडाफोड़ करके उसे पुलिस के हवाले कर देते हैं। और ये विकृत तत्व अक्सर वही

होते हैं, जिन्होंने फेलुदा से सहायता का अनुरोध किया था।

एक अन्य कहानी *सियार देवता का रहस्य* में सियार देवता मिस्र की एनूब्रिस की मूर्ति है, जो नीलमणि सान्याल के यहां से चोरी चली जाती है। कुछ दिनों बाद मिस्र देश की कुछ वस्तुएं एक अन्य संग्रहकर्ता प्रतुल दत्त के यहां से भी चोरी चली जाती है। इस काम में फेलुदा लगते हैं, और अपनी सूझबूझ से नीलमणि सान्याल को पकड़ लेते हैं। कहानीकार ने दिखाया है कि पुरातत्व की वस्तुओं का संग्रह करने की प्रवृत्ति किस प्रकार अति की सीमा तक पहुंचने पर विकृत रूप ले लेती है। *समाद्दार की चाबी* राधारमण समाद्दार नाम के एक ऐसे कंजूस व्यक्ति की कहानी है, जिसे तरह-तरह के वाद्ययंत्र इकट्ठे करने का शौक है। वह व्यक्ति मरते समय मेरे नाम से .... चाबी .... चाबी शब्द का उच्चारण करता है। विलक्षण प्रतिभा के धनी जासूस फेलुदा इस शब्द का अर्थ मालूम करते हैं, तथा राधारमण समाद्दार की संग्रहीत रकम को हड़पने वाले को गिरफ्तार कराते हैं। इस कहानी में संगीत के स्वरों एवं वाद्य यंत्रों के बारे में राय की जानकारी व्यक्त हुई है। *घुरघुटिया की घटना* में भी फेलुदा तोते द्वारा कहे जाने वाले शब्द "त्रिनयन ओ त्रिनयन—एक टू जीरो" का अर्थ पता लगाते हैं और अंत में उस व्यक्ति को गिरफ्तार कराते हैं, जो इस भेद को संदूक खोलकर धन हड़पना चाहता था।

फेलुदा समस्या का समाधान अलौकिक चमत्कार से नहीं करते, बल्कि अपनी प्रतिभा के द्वारा करते हैं। उनके कार्यों की जमीन यथार्थ है। वे हमेशा सत्य का पक्ष लेते हैं, उसकी खोज करते हैं, और असत्य को पराजित करते हैं। जासूस होने के बावजूद वे कभी हत्या का सहारा नहीं लेते। कहानी *सियार देवता का रहस्य* में फेलुदा के साथ रहने वाला पात्र तोपसे कहता है—*फेलुदा के पास बंदूक और रिवाल्वर दोनों हैं। फिर भी किताब के जासूस की तरह वह हमेशा रिवाल्वर लेकर नहीं घूमता है। सच कहूं, अब तक फेलुदा को इन दो हथियारों में से एक भी जरूरत नहीं पड़ी है।*

सत्यजित राय इस बात से परिचित थे कि घटनाओं, पात्रों और विवरणों का बालक के मन पर क्या प्रभाव होता है। इसलिए उन्होंने अपनी कहानियों में रहस्य, रोमांच, फेंटेसी, आश्चर्यजनक आविष्कार, अविश्वसनीय घटनाओं, हैरतअंगेज सूचनाओं का चित्रण किया, ताकि बच्चों की कल्पनाशक्ति का विकास हो सके, किंतु कहानियों को विकृति के चित्रण से हमेशा दूर रखा। और यदि विकृति आई भी है तो पराजित शक्ति के रूप में। वे अपनी यात्राओं तथा फिल्मांकन के लिए जहां कहीं भी जाते थे, वहां की विशिष्टताओं के साथ-साथ भौगोलिक परिस्थितियों का भी अध्ययन करते रहते थे। यही कारण है कि उनके वर्णन में एक कथाकार की कल्पनाशीलता तथा एक यायावर की विश्वसनीयता के दर्शन होते हैं। प्रकृति, मौसम तथा कहानी के घटना स्थल के दृश्य-चित्र वे इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं कि उनमें कहीं भी विरोधाभास नहीं मिलता, और पाठक को लगता है, मानो वह फिल्म देख रहा हो।

वर्णन की यह सूक्ष्मता केवल बाह्य चित्रण में ही नहीं, बल्कि पात्रों के मनोभाव के

चित्रण में भी मिलती है। एक आम व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में कैसे और क्या सोच सकता है, इसके वर्णन में सत्यजित राय ने पात्रों के संपूर्ण चरित्र के प्रति अपनी गहरी समझ का प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से इस संकलन की दो कहानियां—*राम बाबू और वह आदमी* तथा *बारीन भौमिक की बीमारी* पढ़ने योग्य हैं। बारीन भौमिक को जब अपनी चोरी पकड़े जाने की आशंका सताने लगती है तो उनकी स्थिति देखिए—*''बारीन भौमिक ने एक उबासी लेकर अपने आपको उद्विग्नता से परे करने की चेष्टा की, परंतु वे सफल नहीं हो सके। उनके अंग-प्रत्यंगों की जड़ता उनके जबड़ों तक पहुंच चुकी है। श्रवण शक्ति अगर लुप्त हो जाती तो उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता होती, मगर ऐसा होने वाला नहीं है।''*

फिल्म की तरह ही मानवतावाद उनकी कहानी के केंद्र में भी है। इस दृष्टि से *सदानंद की छोटी दुनिया* तथा *खगम* कहानियां पढ़ने लायक हैं। एक बालक सदानंद अत्यंत छोटे जीव चीटी के कारनामों से प्रभावित होकर उससे मित्रता कर लेता है। चीटियों के झुंड को जब उसकी माँ मार देती है, तो उसे बहुत दुख होता है। बाद में जब एक चीटी डॉक्टर की कमीज में घुसकर उसे बुरी तरह काटती है, तो सदानंद को संतोष मिलता है।

सत्यजित राय के पात्र अक्सर अकेले मिलते हैं, किंतु उनके इस अकेलेपन में टूटन या उदासी नहीं है, बल्कि वह उन्हें चिंतन का आधार देता है। इसका कारण सत्यजित राय का अपना बचपन रहा है, जो अधिकांशतः एकांत में ही बीता, और उनकी यह प्रवृत्ति अंत तक बनी रही। उन्होंने स्वयं लिखा है कि ''बचपन में काफी समय मुझे अकेले ही बिताना पड़ता था।'' शायद इसीलिए वे अपनी अधिकांश कहानियों में प्रधान चरित्र को अकेला और संपूर्ण रूप में पकड़ना चाहते थे। असमंजस बाबू, बंकुबिहारी दत्त, सहदेव बाबू, रतन बाबू तथा सदानंद—सभी एकाकीपन में ही रहते हैं, और यही एकाकीपन उन्हें विशिष्ट बनाता है। *सदानंद की छोटी दुनिया* का सदानंद हालांकि बीमार है, लेकिन यह रोग शैय्या उसे उदास और निराश नहीं करती। 'रतन बाबू और वह आदमी' का नायक रतन अकेला रहना चाहता है, और वह अकेले ही घूमता रहता है। दुर्भाग्य से उसे एक मित्र मिलता भी है, तो उसका चेहरा, हाव-भाव, रुचि तथा सोच आदि सब कुछ रतन बाबू जैसा ही होता है। उससे परेशान होकर रतन बाबू उसकी हत्या करके फिर अकेले हो जाते हैं। किंतु बाद में स्वयं उनकी हत्या हो जाती है।

अपनी कहानियों में सत्यजित राय जहां एक ओर साधारण व्यक्ति के अंदर निहित संभावनाओं को उजागर करते हैं, वहीं दूसरी ओर अमीर तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों की कमजोरियों को भी प्रकाश में लाते हैं। इस प्रकार उनकी कहानियां एक 'यथार्थ व्यक्ति की कहानी' बन जाती हैं।

कांकुड़गाछि प्राथमिक स्कूल में भूगोल के शिक्षक बंकू बाबू की कहानी हमें बताती है कि सामाजिक उदासीनता या आर्थिक दीनता, कुछ भी उनके व्यक्ति स्वातंत्र्य को सीमित नहीं कर सकी है। सुदूर ग्रह क्रेनियस के प्रतिनिधि मिस्टर ऐंग द्वारा परिचय पूछे जाने पर वे पहले कहते हैं *बंगाली कायस्थ* हूं। किंतु उसके तुरंत बाद कहते हैं *मनुष्य* हूं। इसी प्रकार

*असमंजस बाबू का कुत्ता* कहानी में असमंजस बाबू पोस्ट आफिस में क्लर्क हैं, जिनके पास एक विस्मयकारी कुत्ता है, जो आदमी की तरह हंसता है। जब एक अमेरिकन इस कुत्ते के लिए मुंहमांगा पैसा देने को कहता है तो असमंजस बाबू इंन्कार कर देते हैं। इस पर अमरीकन कहता है *रुपयों से कोई भी चीज खरीदी जा सकती है।* यह सुनकर असमंजस बाबू का विलक्षण कुत्ता भी हंस देता है, और अमरीकन असमंजस बाबू को पागल करारता हुआ चल देता है। मूलतः यही है इस कहानीकार की मूल संवेदना।

सत्यजित राज कहानी लिखते नहीं, बल्कि कहानी कहते हैं। उनकी शैली अत्यंत सुबोध और प्राञ्जल है, भाव पारदर्शी है, तथा भाषा हंसमुख है। हर स्थान पर *कहने की शैली* मिलती है, *सोचने की शैली* नहीं। बीच-बीच में हल्के-फुल्के हास्य और व्यंग्य की छोंक कहानी को रोचक ही नहीं बल्कि प्रभावशाली भी बना देती है। वे हास्य और व्यंग्य पात्रों के चरित्र के किसी महत्वपूर्ण बिदु को रेखांकित कर उसे गाढ़ा कर देते हैं। वे रोजमर्रा के जीवन से घटनाओं एवं भाषा को उठाकर उसे अपने रचनात्मक संस्पर्श द्वारा एक अनोखे अनुभव में तब्दील कर देते हैं। और यही किसी भी सच्चे रचनाकार का सबसे बड़ा गुण भी होता है।

"मेरी कहानियां कभी आलोचना का विषय बनेंगी, ऐसा मैंने सोचा भी नहीं था। पहली बात तो यह है कि जिनके लिए लिखता हूं, वे यदि मेरी कहानियां पढ़कर खुश होते हैं तो मैं उसी में अपनी सार्थकता समझता हूं। मैंने अपने को एक साहित्यिक के रूप में कभी नहीं देखा। मुझे बस ऐसा लगता था कि मेरे दिमाग में कई कहानियों के प्लाट आते हैं और जब मैं लिखने बैठता हूं तो उनकी बुनाई अच्छी तरह हो जाती है, इससे अधिक और कुछ नहीं। यह सोलह आना सही है, कोई झूठे आत्मदंभ की बात नहीं। आप जैसे साहित्यकार अगर मेरी कहानियों में चिंता या विश्लेषण की खुराक ढूंढ़ पाते हैं तो यह मेरा ऊपरी लाभ है।"

## सिनेमा

फिल्म जैसी संश्लिष्ट किंतु लोकप्रिय विधा को जब उसके निर्देशक के वक्तव्य का सहारा मिल जाता है, तब प्रतीक, बिंब, ध्वनि तथा छायांकन में निहित रचनाकार के मंतव्य स्पष्ट होकर उसकी संवेदना को गहराई तो देते ही हैं, साथ ही उसकी सफलता की संभावना भी बढ़ जाती है। विशेषकर सामाजिक (बौद्धिक) फिल्मों को रचनाकार के चिंतन एवं जीवन की पृष्ठभूमि में समझना उपयुक्त एवं सहज भी होता है। इस दृष्टि से फिल्मों पर सत्यजित राय के अठारह लेखों का संकलन *चलचित्र : कल और आज* केवल फिल्म समीक्षकों के लिए ही नहीं बल्कि दर्शकों के लिए भी एक व्यावहारिक पुस्तक कही जा सकती है।

सत्यजित राय की फिल्में तथा इस पुस्तक में व्यक्त उनके विचार कहीं-कहीं एक दूसरे के पूरक हैं, कहीं-कहीं एक-दूसरे के पर्याय, तो कहीं-कहीं एक-दूसरे के अर्थों का खुलासा करने वाले प्रवक्ता भी। उनकी फिल्में और यह कृति *आत्मकथा* भले न हों, लेकिन उनमें *आत्म वक्तव्यों* को पकड़ पाना जरा भी कठिन नहीं है। सन् 1991 में बनी फिल्म *गणशत्रु* के बारे में जब उनसे पूछा गया था कि यह फिल्म आपकी 'आत्मकथा' तो नहीं है, तो उन्होंने उत्तर दिया था, *कम से कम मेरे सबसे नजदीक जैसी तो है।* कुछ ऐसी ही बात इस पुस्तक के बारे में भी कही जा सकती है।

राय के निधन पर अपने लंबे संपादकीय में एक पत्र ने लिखा था कि *उनकी निगाह मानव व्यापार की मार्मिक, करुण, वेध्य और विडंबनापूर्ण स्थितियों में गहरे उतरती है, लेकिन उस जर्राह के औजार की तरह, जिसे अपने प्रियजनों की ही चिकित्सा करनी है। कह सकते हैं कि उनकी फिल्मों में एक सजग करुणा और अक्रूर कठोरता है।* राय में करुणा और कठोरता का यह सामंजस्य कहां से आया, इसे समझने में यह पुस्तक मदद करती है।

सत्यजित रवींद्रनाथ और शरतचंद्र की बंगला भावुकता के मध्य पले थे। संगीत एवं चित्रकला के प्रति उनका आकर्षण इसी भावुक मन का आकर्षण था। किंतु वे रसायन और भौतिक शास्त्र के विद्यार्थी थे, इसलिए उनके पास वैज्ञानिक दृष्टि भी थी। जब अपने इंग्लैंड प्रवास के दौरान उन्होंने सौ फिल्में देखीं, तो इटली के फिल्मकार *डी सीका* की फिल्म *बाइसिकिल थिव्स* देखने के बाद उनकी प्रतिक्रिया थी कि *मन पूरी तरह बन चुका था कि मैं फिल्मकार बनूंगा।* डी सीका यथार्थवादी फिल्मकार थे। इस पुस्तक के आरंभ के अध्यायों में फ्रांस, जापान, सोवियत संघ के यथार्थवादी फिल्मों की चर्चा राय ने की है। ये फिल्मकार हैं—आइजेंश्तेइन, ग्रिफिथ, जां रेनुआ, अकिरा कुरोसावा तथा गोदार। जिस रूप में इनकी चर्चा की गई है, उससे इनके प्रति राय की श्रद्धा स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। फ्रांसीसी निर्देशक जां रेनुआ की उस फिल्म 'ला रेग्ल दू जो' का विस्तार से उल्लेख है, जिसमें फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग के कुरूप चेहरे का चित्रण है। इस प्रकार राय के इन लेखों से सिनेमा के प्रति उनकी समझ (वस्तु तथा अभिव्यक्ति) को विकसित करने वाले तथ्यों की जानकारी मिलती है। और तब यह अच्छी तरह से समझ में आता है कि उन्होंने क्यों 'पथेर पांचाली' जैसी फिल्म बनाई और क्यों उनमें करुणा और कठोरता का सामंजस्य है।

अक्सर हिंदी भाषा की कलात्मक फिल्मों की अकाल-मृत्यु की बात कही जाती है। इसका उत्तर राय की फिल्मों की लोकप्रियता तथा इस पुस्तक में व्यक्त उनके विचारों में है। सत्यजित राय की राय में 'दर्शक सुघड़ प्लाट-संवलित कहानी चाहते हैं' ... दर्शक नाटकीय, घात-प्रतिघात चाहते हैं, सुदर्शन नायक-नायिका चाहते हैं, मनोरम दृश्यावली चाहते हैं, तड़क-भड़कदार परिवेश चाहते हैं। साथ-ही साथ विभिन्न रसों का एक उपभोग समन्वय चाहते हैं, जिससे कि सर्वांत में उनका मन परिपूर्ण हो उठे! सत्यजित राय की फिल्मों की निजी विशेषता यह है कि वे समाधान का फार्मूला प्रस्तुत न करने के बावजूद दर्शक के मन को परिपूर्ण करने की क्षमता रखती हैं। दर्शक उनकी करुणा के साथ बहता जाता है,

जिसे उनकी कठोरता नियंत्रित करती रहती है। इस प्रकार दोनों का सामंजस्य दर्शकों को परितृप्त करता है।

राय की फिल्मों से परितृप्त होने वाला यह दर्शक न तो किसी भाषा विशेष का है, और न ही किसी वर्ग विशेष का। प्रश्न है कि ऐसा कैसे हो सका? इसका उत्तर स्वयं राय के वक्तव्यों में मिल जाता है। फ्रांसीसी निर्देशक रेनुआ के बारे में सत्यजित राय लिखते हैं कि "उसमें जो सबसे बड़ा गुण है, वह है मानवता। रेनुआ द्वारा निर्मित समस्त चरित्र न केवल सजीव हैं, बल्कि अपने गुण-दोषों के साथ वे संपूर्ण मनुष्य हैं।" बहुत कुछ यही बात उन्होंने अपनी प्रथम एवं सर्वाधिक चर्चित फिल्म *पथेर पांचाली* के बारे में भी कही है, जिसे जानना रोचक होगा। राय लिखते हैं—"पथेर पांचाली का प्रमुख गुण था उसकी सरलता। उसके साथ ही आवेग, काव्यात्मकता, यथार्थता, मानवता आदि वैसे गुणों का समावेश, जो विभूतिविभूषण के उपन्यास में मौजूद है।"

वस्तुतः राय अपनी जमीन की जड़ों से जुड़े हुए ऐसे *मगन रचनाकार हैं,* जो अपनी 'सच्ची संवेदना' में असीम बन जाते हैं। अपनी भाषा, संस्कृति और अपनी मिट्टी की सोंधी गंध की पहचान उन्हें थी और इसी को रचने में वे स्वयं को सहज भी महसूस करते थे। उनकी यही सहजता विश्व के लिए उन्हें सरल बनाती है और वे सार्वदेशिक हो जाते हैं। उन्होंने चित्रकला के अपने गुरु नंदलाल बोस के बारे में लिखा है कि नंदलाल चित्र बना रहे शिष्यों के कंधे पर से चुपके से झांककर कहा करते थे "गाय का आकार तो अच्छा बना है, पर गाय सिर्फ आकार नहीं है। गाय के रूप को महसूस करो। जो महसूस करो, उसे पेंसिल चलने के तरीके में साफ दिखना चाहिए।" प्रस्तुत पुस्तक में फिल्म की भाषा, संवाद, छायांकन, प्रतीक, वेशभूषा तथा पात्रों के चयन के बारे में लेख हैं। ये सभी लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किस प्रकार छोटी-छोटी बात को भी वे बड़ी गंभीरता से लेते थे, और उसे संवेदना के स्तर पर महसूस करते थे। *चलचित्र-रचना : आंगिक, भाषा और भंगिमा* लेख के अंतर्गत उन्होंने *पथेर पांचाली* के एक दृश्य की विस्तार से चर्चा की है, और उसके अर्थों का खुलासा किया है। इस बात तक का जिक्र किया है कि क्यों कोई दृश्य विशेष लांग शॉट में लिया गया या कि क्लोज अप में लिया गया। प्रतीक की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि *शंख की चूड़ी का वह कंपन मानों उसके (सर्वजया) वक्ष का कंपन है।* यह लेख समालोचकों के साथ-साथ फिल्म निर्देशकों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है।

इसके साथ ही सत्यजित राय ने अपनी फिल्म *अपूर संसार* तथा *चारुलता* के बारे में अलग-अलग लेख लिखे थे, जो इसमें संकलित हैं। *अपूर संसार* संबंधी लेख में उन्होंने एक समालोचक को उत्तर देते हुए निष्कर्ष के बतौर कहा है कि *उपन्यास पर आधारित कोई ऐसा सार्थक चलचित्र आज तक निर्मित नहीं हुआ है, जिसमें निर्देशक को अपनी दृष्टि भंगिमा और कल्पना का सहारा न लेना पड़ा हो।* ज्ञातव्य है कि फिल्म निर्देशक बनने से पहले सत्यजित लेखक थे। उनकी दस फिल्में स्वयं की कहानियों पर आधारित हैं। शेष

बीस फिल्मों के लिए उन्होंने विभूति भूषण बंद्योपाध्याय के चार, ताराशंकर बंद्योपाध्याय की दो, सुनील गांगुली की दो, रवींद्रनाथ टैगोर की दो तथा मुंशी प्रेमचंद की दो कहानियां लीं। उनकी *गणशत्रु* इब्सन के नाटक *दि इनेमी ऑफ दि पिपुल* पर आधारित है। साहित्यिक कथानकों पर फिल्म बनाने वालों पर अक्सर साहित्य को विकृत करने का आक्षेप लगाया जाता है। *चारुलता* के संदर्भ में तो सत्यजित राज ने उपन्यास के मूल अंश तथा फिल्मों के संवाद को आमने-सामने रखकर इस आक्षेप का उत्तर दिया है। राय के इन लेखों में उस आक्षेप का उत्तर उस समय स्वयं मिल जाता है जब आक्षेप लगाने वाला फिल्म निर्माण की प्रक्रिया एवं सीमाओं से अवगत होता है।

फिल्म के विभिन्न पहलुओं पर लिखे गए लेख यह प्रमाणित करते हैं कि उन पर सत्यजित राय की कितनी सूक्ष्म और गहरी पकड़ थी। राय की यह पकड़ केवल सैद्धांतिक नहीं बल्कि व्यावहारिक थी। यह कहना अधिक सही होगा कि यह पकड़ अनुभवगत थी। फिल्मों का निर्देशन करने से पहले वे ऐसा बहुत कुछ कर चुके थे, जिन्होंने फिल्मों पर उनकी पकड़ को मजबूत बनाया। वे लेखक थे, इसलिए अपनी फिल्मों की पटकथा स्वयं लिखते थे। वे चित्रकार थे, इसलिए अपने फिल्मों के ग्राफिक तथा विज्ञापन तक वे स्वयं तैयार करते थे। भारतीय एवं पश्चिम संगीत की उन्हें बड़ी अच्छी समझ थी। संगीतकार वीथोवेन की जीवनी से वे अत्यंत प्रभावित थे। अपने फिल्मों की संगीत रचना वे स्वयं करते थे। पात्रों का चयन, वेशभूषा का चुनाव तथा संपादन तक वे स्वयं करते थे। इस प्रकार वे सच्चे अर्थों में एक समग्र कलाकार थे। इस पुस्तक के पृष्ठ 127 पर उन्होंने स्वीकार भी किया है कि *विज्ञापन का काम छोड़कर मैंने सिनेमा के काम को अपने हाथ में ले लिया तो मेरे लिए चलचित्र के प्रति आकर्षण का कारण मुख्यतः उसके शिल्प का आकर्षण ही था।* इस पुस्तक के लेख इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि फिल्म के शिल्प की उन्हें कितनी अच्छी समझ थी। इससे संबंधित स्वतंत्र लेख इसमें हैं। यहां तक कि फिल्मों में रंग की भूमिका तक पर उन्होंने अलग से लिखा।

इस पुस्तक का एक अत्यंत रोचक पक्ष है इसमें संकलित कुछ ऐसे लेख जो संस्मरण एवं रेखाचित्रों का सा आनंद देते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन लेखों में पात्रों के चुनाव तथा पात्रों के चरित्र की समझ के बारे में उनकी अंतर्दृष्टि का भी पता चलता है। उसमें वर्णित पात्र वे हैं, जो संयोगवश सत्यजित राय के संपर्क में आए एवं अपने व्यक्तित्व की कोई न कोई छाप उनके मानस पटल पर छोड़ गए। ऐसे पात्रों में विनोद दा को छोड़ कर शेष सभी पात्र आम लोगों के बीच के पात्र हैं।

एक सामान्य वृद्ध पात्र को याद करते हुए सत्यजित राय लिखते हैं कि "चुन्नीवाला को अपने दल में लेकर उनसे काम कराने के दौरान बार-बार यही महसूस किया कि उनका पता न चलता तो हम लोगों के 'पथेर पांचाली' का निर्माण न हो पाता। यह राय की सन् 1957 में बनी पहली फिल्म थी। तब वे मात्र 35 वर्ष के थे। चुन्नीवाला जैसे पात्रों से सत्यजित राय ने पहली फिल्म से ही सीखना शुरू कर दिया। उन्हें अनुभव हुआ कि आम

लोगों के मध्य से चुने गए पात्र छोटी-छोटी गलतियों की ओर ध्यान दिलाने का महत्वपूर्ण काम करते हैं।

'दो चरित्र' संस्मरण में उन्होंने सुबोध दा और रमणी रंजन सेन के मिजाज का वर्णन बड़े ही रोचक तरीके से किया है। 'इधर-उधर की बातें में उन्होंने कई फिल्मों के बारे में छिट-पुट चर्चा की है। यह भी रेखाचित्र एवं संस्मरण पर आधारित है। इसमें पात्रों के चयन के बारे में अपना निष्कर्ष देते हुए वे लिखते हैं कि *दरअसल जिससे जो काम स्वाभाविक रूप में हो सकता है, कैमरे के सामने उससे वही काम कराया जाए तो वह काम उच्च श्रेणी के पर्याय के अंतर्गत आ जाता है। हमारे देश की फिल्मों के अतिशय दुर्बल अभिनय का कारण यह है कि जिसके द्वारा जो काम नहीं हो सकता है, उसी से हम उस काम को कराने की चेष्टा करते हैं।*

जापान के विश्वविख्यात फिल्म निर्देशक अकिरा कुरोसावा ने सत्यजित राय की फिल्मों के बारे में कहा था कि *शांत किंतु गहरा निरीक्षण, मानव जाति के प्रति प्रेम और समझ, जो कि उनकी फिल्मों की विशेषता है, ने मुझे अत्यंत प्रभावित किया है।* सत्यजित राय की इस पुस्तक में संकलित उनके लेख, लेखन के स्तर पर कुरोसावा की इस उक्ति को सही ठहराते हैं। □

## सन्नाटे में दूर तक

# असमाप्त यात्रा की अंतर्मुखी गाथा

### वेदप्रकाश भारद्वाज

कवयित्री अमृता भारती के काव्य संकलन 'सन्नाटे में दूर तक' के बारे में यदि एक वाक्य में कुछ कहना हो तो कहना पड़ेगा कि यह कृति मन की असमाप्त यात्रा की अंतर्मुखी गाथा है जिसमें अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने के लिए कवयित्री ने मनोविज्ञान एवं दार्शनिकता का सहारा लिया है। अमृता भारती का मानना है कि उनकी कविताएं नितांत उनकी अपनी हैं, उसमें कोई बाहरी दुनिया नहीं है। स्वयं उनके शब्दों में "मेरी कविताओं में दुनिया बहुत कम है—यदि है तो किसी 'निहितार्थ' के अंदर या किसी प्रतिभास के रूप में। पर इसका कारण न तो अनजानापन है, न निरासक्ति का भाव, न संवेदनशीलता की कमी—बल्कि एक प्रतीक्षा है, मेरे और इस दुनिया के बीच, किसी सच्चे प्रयोजन की प्रतीक्षा।"

दरअसल यह किसी सच्चे प्रयोजन की प्रतीक्षा केवल अमृता भारती की प्रतीक्षा नहीं

है, यह प्रत्येक संवेदनशील-मननशील भारतीय मन की प्रतीक्षा है। भारतीय संस्कृति में जितने भी दर्शन—धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि शुरू से अब तक जन्मे हैं, उनका ध्येय मानव व दुनिया के मध्य किसी सच्चे एवं सार्थक प्रयोजन की तलाश ही रहा है। फिर यह प्रतीक्षा केवल भारतीय दर्शन में नहीं बल्कि विश्व के समस्त दर्शनों व क्रियाओं के मूल में रही है। इसलिए अमृता भारती के न चाहते हुए भी उनकी कविताओं में दुनिया आ ही जाती है, एक संपूर्ण अथवा बड़ी दुनिया।

यहां आलोचक तारकनाथ बाली के शब्द याद आते हैं। उनकी स्थापना है कि मानव की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होती जो सामाजिक न हो। व्यक्ति की नितांत व्यक्तिगत क्रियाओं का भी एक सामाजिक प्रयोजन होता है। साहित्य सृजन भी वैयक्तिक होने के बावजूद सामाजिक कर्म है। इसलिए किसी रचना में दुनिया बहुत कम या बिल्कुल ही न हो यह संभव ही नहीं है। फिर जब कोई एकांत मन की अनुभूति शब्दों में ढली अभिव्यक्ति बन जाती है तब तो वैसे भी दुनिया से उसका एक सरोकार कायम हो ही जाता है और यही सरोकार किसी भी कविता में रचनाकार के न चाहते हुए दुनिया की प्रतिष्ठा कर देता है। सबसे बड़ी बात यह है कि कोई भी ऐसा सृजनकर्म लोकप्रभावी नहीं हो सकता जिसमें केवल सृजनकर्ता का संसार ही रचा-बसा हो। अमृता भारती की कविताएं लोक प्रभावी हैं इसलिए उनमें निश्चित ही एक दुनिया है क्योंकि कवयित्री की दुनिया पूरी दुनिया से कोई भिन्न या विचित्र नहीं है। अमृता भारती की कविताएं एक पक्षीय संवाद नहीं हैं और यदि ऐसा हो जाता तो कहना न होगा कि इस संकलन की कविताएं एक प्रयोजन की प्रतीक्षा बनने की बजाय एकांत का विलाप बनकर रह जातीं। लेकिन ऐसा है नहीं क्योंकि इस संकलन की कविताओं को पढ़ते हुए पाठक एक ओर जहां अमृता भारती की बात सुनेंगे वहीं अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें स्वयं की बात को कहे जाने की अनुभूति भी होगी।

अमृता भारती ने इस संग्रह की कविताओं को पांच खण्डों में विभाजित किया है, 'पुरुष सूक्त-अंधेरे की ऋचा', 'कविता से कविता तक', 'समय का मिथक', 'चलते पानी के बीच' तथा 'गर्म द्वीप में'। इन पांचों खंडों में कुल 59 कविताएं हैं—जिनमें सीमाहीन समर्पण व विद्रोह है, अर्पण ही नहीं प्रत्यार्पण की चाह है, मंजिल को पा लेने का अदम्य उत्साह व आत्मविश्वास है, हर असफलता के बाद पुनः प्रयास की झलक है, मंजिल को न पाने अथवा प्रतीक्षा के पलों को न पाट पाने से उत्पन्न छटपटाहट भी है परंतु शायद ही कहीं निराशा के क्षण आए हों।

अमृता भारती जिस प्रयोजन की प्रतीक्षा में है उसकी लंबी पर शायद कभी समाप्त न हो पाने वाली यात्रा की झलक संग्रह की प्रथम कविता 'पुरुष सूक्त-अंधेरे की ऋचा' में ही मिल जाती है। यह कविता नारी मन की अभिव्यक्ति है जो प्रेम करना चाहती है, इस प्रेम के लिए हर बाधा को हटाने को संकल्पवान है।

*मैं प्रेम करना चाहती थी*
*और रास्ते के*

*उस किसी भी पेड़, टेकरी या पहाड़ को*
*गिरा देना चाहती थी*
*जो मेरी रुकावट बनता था*
*वह पेड़ भाई हो सकता था*
*वह टेकरी बहिन*
*और वह पहाड़ पिता हो सकता था (पृष्ठ-11)*

परंतु कवयित्री केवल यही नहीं देखती कि प्रेम की राह में बाधाएं बहुत हैं, वह यह भी देखती है कि प्रेम के अर्थ को गलत समझा जाता है तथा प्रेम की बात को प्रलोभनों के माध्यम से उपेक्षित करने का प्रयास किया जाता है। दरअसल अमृता भारती का प्रेम केवल स्त्री पुरुष का प्रेम नहीं है अपितु प्रकृति प्रदत्त वह भावना है जो जड़ व चेतन सभी को एक अव्यक्त आकर्षण में, एक अपरिभाषित संबंध में बांधती है। इसलिए वह कहती है—

*प्रेम उनके लिए*
*कभी खिड़की से देखा जाने वाला एक सुंदर भू-दृश्य होता*
*कभी भागकर छिपने के लिए मिला*
*एक निभृत स्थान*
*वह नहीं था*
*धरती में रोपा जाने वाला कोई पौधा*
*या कोई लतर*
*जिसे श्रम के जल से सींचना जरूरी हो।*
*जब भी हवा या आकाश की बात होती*
*वे उसे, उस क्षण की अपेक्षा से काटकर*
*किसी सदूरवर्ती स्वप्न में ले जाते। (पृष्ठ 12-13)*

स्पष्ट है कि अमृता भारती की नजर उस प्रेमभाव पर है जो हवा या आकाश की तरह नैसर्गिक है और जिसकी बात चलने पर वे शक्तियां जो मानव मन को (एक बड़े समूह के रूप में नारी को भी शामिल करते हुए) नियंत्रित करना चाहती हैं, उस क्षण को अर्थात् नैसर्गिक प्रेम के क्षण को मानव मन से काटकर फेंक देती है। और यह सब होता है सुदूरवर्ती स्वप्न को साकार करने का प्रलोभन देकर। यहां अमृता भारती के शब्दों में एक गहरा व्यंग्य भी है। उनकी नजर में प्रेम, हवा या आकाश की तरह नैसर्गिक है जिसे महसूस किया जा सकता है, जो जीवन के लिए अनिवार्य है। परंतु उसे छू पाना संभव नहीं है और यही बात सुदूरवर्ती स्वप्नों पर भी लागू होती है। यह अलग बात है कि मन को प्रेम के क्षणों से काटकर सुदूरवर्ती स्वप्नों में ले जाया जाता है अर्थात् महसूस भर करने लायक एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक की यात्रा। यहीं आकर कवयित्री को जीवन-यात्रा के उद्देश्य को लेकर शंका होती है कि वह क्या है?

*पर उद्देश्य ...?*
*वह तो कभी परिभाष्य नहीं होता यात्रा के दौरान*
*या पूर्ण परिभाष्य नहीं होता*
*सिर्फ एक दिशाबोध रहता है।*
*चलते हुए*
*और हम अन्यत्र नहीं हो पाते (पृष्ठ-17)*

लेकिन अमृता भारती की नजर में यह यात्रा एक अनिवार्यता बन जाती है या एक अनिवार्यता बना दी जाती है। इस अनिवार्य यात्रा में यदि मंजिल को पा लेने की आशा का सुख है तो दुख भी है क्योंकि मन में आशा के निकले पैर बाहर बिछी घास रूपी सुखों के छोटे नरम स्पर्शों से भी व्यक्ति को वंचित कर देते हैं। फिर पीड़ा इस प्रेम की प्रतीक्षा की या दुनिया के साथ अपने प्रयोजन की प्रतीक्षा के कभी समाप्त न हो पाने की भी कम नहीं है क्योंकि कष्ट प्रतीक्षा के कभी समाप्त न हो पाने का भी कम नहीं है क्योंकि एक प्रतीक्षा समाप्त होते ही दूसरी शुरू हो जाती है।

इस खण्ड की अन्य कविताओं में 'मैं और वे' नारी मुक्ति की सांकेतिक अभिव्यक्ति है तो 'वही एक घटना' (पृष्ठ-28) नारी मन की युगों युगों से जारी पुकार व खामोशी के विरोधाभास को व्यक्त करती है। वैषम्य (पृष्ठ-29) में सीमाहीन नफरत की अभिव्यक्ति है।

दूसरे खण्ड 'कविता से कविता तक' की रचनाएं अधिक गंभीरता एवं प्रभावोत्पादकता लिए हुए हैं। कविता व शब्दों के मध्य अमृता भारती उसी दुनिया को तलाशती नजर आती हैं जो उनके अनुसार उनकी कविता में बहुत अधिक नहीं है। वैसे तो इस खण्ड की लगभग सभी कविताएं बेहतरीन रचनाएं कही जा सकती हैं परंतु 'तस्वीर, कविता और आदमी' तथा 'कविता से कविता तक' रचनाएं अधिक संप्रेषणशील हैं।

*वे बातें करेंगे/और कविता को शब्दों में तोड़ देंगे/फिर एक-एक अक्षर निकालेंगे/अपनी उठी हुई उंगलियों पर ... (पृष्ठ-40)*
*और मैं/एक-एक अक्षर में/भीड़ की उठी हुई उंगलियों पर से/धीरे से उतर आऊंगी/अपनी कविता में/नये आदमी के साथ (पृष्ठ-41)*

इस कविता तक आते-आते जैसे कवयित्री को इस बात का पूर्ण अहसास हो चुका है कि प्रतीक्षा या कि यात्रा एकांगी संभव नहीं है इसलिए वह अपनी कविता में नए आदमी के साथ होने की चाहत रखती है। परंतु इसका अर्थ उसके संघर्ष संकल्प का टूटना नहीं है क्योंकि वह जानती है कि—

*इतने छोटे से प्रकाश में/मुझे लिखनी है/अंधेरे में रखी वह इतनी बड़ी कविता/(पृष्ठ-42)*

इस संग्रह के तीसरे खण्ड 'समय का मिथक' तक आते आते अमृता भारती का

स्वर दार्शनिक होने लगता है। इस खण्ड की कविताओं में कवयित्री को समय को थामने, अपने साथ जोड़ने की ललक है, साथ ही अतीत का अवसाद भी है। अतीत का विस्मरण सहज नहीं है, सहज क्या शायद संभव ही नहीं है, बावजूद इसके कि—

> *मैं बरसों तक बुनती रही विस्मरण/कोहरे की तरह झीना/अंधेरे की तरह अपारदर्शी आवरण/एक विशाल शव-वस्त्र/कि समय के भूत को/सर्वांग लपेट कर/गर्त के लिए प्रस्तुत किया जा सके/ (पृष्ठ-47)*

अतीत को काटने के दावे भी कमजोर होते हैं क्योंकि हर कोई अतीत को काटने के नाम पर उसमें भविष्य के लिए कुछ न कुछ जोड़ जाता है। लेकिन वर्तमान, एक जीवंत वर्तमान की उपस्थिति भी उतना ही बड़ा सत्य है जितना अतीत। अतीत का अवसाद यदि मन को परेशान करता है तो वर्तमान जीवन की सार्थकता का अहसास भी कराता है। यही वर्तमान कवयित्री को शक्ति प्रदान करता है कि वह समय को थामने का प्रयास करे हालांकि यह एक असंभव स्थिति है। फिर भी अमृता भारती कहती हैं—

> *मेरा समय/मैं उसे अपना संदर्भ दूंगी/अपना वास्तविक अर्थ/अपने सपने से जुड़ा हुआ/मैं चाहे जब उसे रोक लूंगी। (पृष्ठ-53)*

इसी खंड की एक अन्य कविता 'अंतराल' (पृष्ठ-57) बालमन के प्रबुद्ध मन बन जाने पर उत्पन्न अंतर व परिवर्तन को अभिव्यक्त करती है।

संग्रह के चौथे खण्ड, 'चलते पानी के बीच' की कविताओं में फिर से अमृता भारती प्रतीक्षा के पलों में असमाप्त यात्रा में पहुंच जाती हैं। 'प्रतीक्षा जल' (पृष्ठ-65) में नदी के प्रवाह के माध्यम से जीवन यात्रा को चित्रित किया गया है। 'क्या यह संभव है' (पृष्ठ-66) में कवयित्री की बेहद साधारण नारी बनने की आकांक्षा सामने आती है।

> *उसके अंदर नहीं है कोई तलवार की धार/न घुप्प अंधेरा/न रोशनी की बदलती परिभाषाएं/न आसमानों का चटकता सन्नाटा/अपने दिन से अलग वह कहीं भी नहीं है/अपनी रात से बाहर कहीं भी नहीं/वह व्यस्त है और शांत भी (पृष्ठ-66)*

दरअसल औरों से कुछ अलग, कुछ विशिष्ट बनने की चाह हमेशा से मानव की रही है परंतु इस विशिष्ट बन जाने में भी कम परेशानियां नहीं हैं क्योंकि विशिष्टता के अपने कुछ आग्रह होते हैं जो मन को शांत नहीं होने देते। एक असुरक्षा की भावना भी होती है क़ि कहीं हमारी विशिष्टता समाप्त या छोटी न हो जाए।

संग्रह के पांचवे खंड 'गर्मद्वीप में' की कविताएं कुछ-कुछ दार्शनिकता लिए प्रयोजन तलाशती कविताएं हैं। कुछ कविताओं में सांकेतिक रूप से तो कुछ में सीधे-सीधे वर्तमान

की विसंगतियों को उभारा गया है। जैसे 'प्रेषित जन' कविता जिसकी आरंभिक पंक्तियां हैं—

*हम योद्धा थे*
*और हमें शांति में से तराशा गया था। (पृष्ठ-87)*

आधुनिक हिंदी कविता में अक्सर यह देखने को मिलता है कि रचनाकार सवालों से कतराकर निकल जाते हैं या सवाल तो उठाते हैं परंतु उनका जवाब देना नहीं चाहते। कई बार ऐसी भी रचनाएं देखने में आती हैं जिनमें किसी लुप्त सवाल का या ओझल प्रश्न का जवाब देने का अथवा तलाशने का दावा किया जाता है। कई बार रचनाकार के सामने ऐसी स्थितियां, ऐसे सवाल या अनुभूतियां आ खड़ी होती हैं जो स्वयं में भले ही अस्पष्ट हों परंतु किसी स्पष्ट जवाब की आकांक्षा अवश्य रखती हैं। इस खंड की कविता 'उत्तर बीज' एक ऐसी ही रचना है जिसमें अमूर्त सवाल का अमूर्त जवाब देने की कोशिश सामने आती है। शायद अमूर्त जवाब इसलिए कि मनुष्य के समक्ष आज भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका कोई स्पष्ट या अंतिम सत्य जवाब दे पाना उसके लिए संभव नहीं है। जीवन व मृत्यु का सवाल भी कुछ ऐसा ही है। इसलिए एक तरफ श्मशान में उगे सवाल के वृक्ष को कवयित्री ने चित्रित किया है जिसे छोड़कर लोग धीरे-धीरे चले जाते थे वहीं उसने स्वप्न में सवाल के वृक्ष के पास उत्तर बीज बो दिया। स्वप्न में इसलिए कि शायद चेतन अवस्था में कोई उत्तर बीज बो पाना संभव नहीं था।

'सर्वात्मन' कविता (पृष्ठ 102) में इस बात की स्वीकारोक्ति सामने आती है कि जिंदगी की राह सूनी नहीं होती बल्कि व्यक्ति स्वयं अपनी आंखों में एक सूनापन, एक लंबा फासला स्थापित कर लेता है। एक ऐसी पीड़ादायक स्थिति जिससे कितने ही लोग दो-चार होते हैं। यहां अमृता भारती का वह भाव या अभाव मुखरित हुआ है जिसके रूप में किसी और की उपस्थिति को वे महसूस करती हैं।

कविता दायित्व (पृष्ठ-105) इस संग्रह की एक सशक्त रचना है जिसमें कहा गया है कि जो हमारे आत्म को प्रकाशित करता है वह मित्र होता है और जो हमारे आत्म को अपना वस्त्र पहनाता है वह शत्रु है। यह त्रासदी शायद मानव के साथ हमेशा से रही है कि उसके आत्म को प्रकाशित करने वाले या उसमें सहायता करने वाले लोग कम ही मिलते हैं परंतु उस पर अपना प्रभाव कायम करने वाले अधिक। यहां तक कि इस तरह की शिकायत करने वाला व्यक्ति भी दूसरों पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है भले ही ऐसा कहे नहीं।

*आत्मवेध (पृष्ठ-111) संघर्षशील मन की दास्तान है।*
*मैं लड़ाई से नहीं भागी/तीर ही पराङ्मुख हो गये/*
*हर बार लक्ष्य से/अब वे तलाश रहे/मेरे अंदर/*

*अपना लक्ष्य/हर बार सामने आया शिखर ढह जाता/फिर दूसरा फिर तीसरा/*
*यात्रा हर बार आरंभ बन जाती/*
*मैं चल रही हूं/या यह मार्ग/नहीं जानती।*

समग्र रूप में अमृता भारती की रचनाओं में मन व मस्तिष्क की विभिन्न स्थितियों को प्रस्तुत किया गया है। बेशक कुछ कविताओं में प्रेम का स्वर प्रधान हुआ है परंतु वहां भी प्रेम केवल स्त्री-पुरूष का प्रेम न होकर नैसर्गिक मानवीय प्रेम है। एक प्रयोजन की प्रतीक्षा में अमृता भारती अपनी काव्य यात्रा में जिन मोड़ों से गुजरती हैं वहां निश्चित ही एक भरी-पूरी दुनिया उनके साथ चलती नजर आती है। काव्यानुशासन का पालन करती इस संग्रह की कविताओं में कवयित्री ने भाषा के स्तर पर जहां स्वयं को शाब्दिक चमत्कार के मोह से बचाए रखा है वहीं बिंब व प्रतीकों का चयन अपने आस-पास के परिवेश और बहुधा प्रकृति से किया है। नदी, वृक्ष, जल, पहाड़ आदि के माध्यम से जीवन की समग्रता पर उनकी नजर है। □

---

***शीतलहर/विश्वंभरनाथ उपाध्याय/चिन्मय प्रकाशन, जयपुर/मूल्य रु. 50.00***

---

***उत्पाती शनिपुत्र/ऊ नु/चंद्रप्रकाश प्रभाकर/इरावदी पब्लिकेशन्स, सी-487 विकास पुरी, नयी दिल्ली-18/मूल्य 150/-/पृ.सं. 480***

---

***सत्यजित राय की कहानियां/अनुवादक-योगेंद्र चौधरी/पृष्ठ-203/मूल्य 90.00/ प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली***

---

***चलचित्र कल और आज/सत्यजित राय/पृष्ठ 155/75 रुपए/प्रकाशक : राजपाल एंड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली***

---

***सन्नाटे में दूर तक/अमृता भारती/भारतीय ज्ञानपीठ/18 इंस्टीट्यूशनल एरिया/ लोदी रोड नयी दिल्ली-110003/पृ. 136/साठ रुपए***

## अनुवाद 74-75 : बर्मी साहित्य अंक

बर्मा (अब म्यामां) और भारत बौद्ध धर्म, पालि व संस्कृत भाषा के माध्यम से गहरे तक जुड़े रहे हैं। ऐसे में बर्मी भाषा के साहित्य को पढ़ने का अवसर निश्चय ही एक सुखद अनुभूति है। यह अनुभूति और भी सुखद तथा अपनत्व भरी बन जाती है जब भाव और अभिव्यक्ति के स्तर पर हम बर्मी साहित्य एवं भारतीय साहित्य में एक गहरा व आत्मीय संबंध पाते हैं। बर्मी साहित्य एवं भारतीय साहित्य, विशेष रूप से हिंदी साहित्य के मध्य मूल संस्कार, प्रवृत्तिया एवं इतिहास संबंधी इतनी अधिक समानताएं हैं कि उन्हें देख-पढ़कर एक सुखद अनुभूति होती हैं। हिंदी भाषा में बर्मी साहित्य का बहुत अधिक अनुवाद नहीं हुआ है केवल इरावदी पब्लिकेशन ने इस क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य किया है। *भारतीय अनुवाद परिषद की त्रैमासिक पत्रिका अनुवाद के संयुक्त अंक 74-75 को इस दिशा में की गई एक ठोस पहल कहा जा सकता है।* पत्रिका के इस अंक में बर्मी भाषा में लिखे गए अनुवाद व साहित्यिक प्रवृत्तियों संबंधी लेख तथा कुछ कहानियां एवं कविताएं हैं। कुछ रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद है तथा हिंदी में प्रकाशित बर्मी साहित्य की समीक्षाएं भी हैं। किसी भी भाषा के साहित्य की समग्र तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए शायद किसी पत्रिका का एक अंक पर्याप्त नहीं है फिर भी अनुवाद ने अपने सीमित साधनों में बर्मी साहित्य की इतनी रूप-रेखा तो प्रस्तुत कर ही दी है कि पाठक बर्मी साहित्य के मूलभाव से परिचित हो सकें।

अनुवाद के इस अंक में बर्मी लेखों एवं अन्य रचनाओं को पढ़ते समय यह अनुभूति होती है कि हम कोई विदेशी भाषा का साहित्य नहीं बल्कि अपने देश की ही किसी भाषा का साहित्य पढ़ रहे हैं। और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि स्थानों एवं व्यक्तियों के नामों को छोड़कर इन रचनाओं में ऐसा कुछ नहीं है जिसे भारतीय न कहा जा सके। इसका प्रमुख कारण जहां बर्मा व भारत की संस्कृतियों में समानता है वहीं बर्मी साहित्य में भी लगभग उन्हीं मानवीय स्थितियों-भावों-विचारों की अभिव्यक्ति है जो सर्वदेशीय व सार्वकालिक है। दरअसल मानवीय प्रकृति-प्रवृत्ति व समस्याएं विश्व के लगभग सभी समाजों में थोड़ी या अधिक मात्रा में लगभग एक जैसी हैं। मानवीय अस्मिता का संघर्ष, प्रेम, परिवार, न्याय अन्याय की लड़ाई प्रत्येक समाज में विद्यमान है। सत्ता एवं जनता के मध्य संघर्ष केवल तानाशाही शासन में ही नहीं होता, वह वहां भी होता है जहां लोकतंत्र अथवा साम्यवाद के साये में जनता का शासन होने का दावा किया जाता है या किया जाता था। बर्मी एवं भारतीय समाज में एक और समानता है, वह यह कि दोनों ही समाज एक लंबे समय तक विदेशी शासन के गुलाम रहे हैं दोनों ने ही कड़े संघर्ष के बाद स्वतंत्रता प्राप्त की थी। अंतर है तो केवल इतना कि बर्मा में लोकतंत्र कभी स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सका और आज वहां सैनिक तानाशाही है। यह भी एक कारण है कि हिंदी साहित्य और बर्मी साहित्य में एक समता नजर आती है।

बहरहाल अनुवाद के इस अंक में बर्मी भाषा में लिखे गये अनुवाद संबंधी लेखों में एक तरफ जहां अनुवादक की योग्यताएं एवं एक अच्छे अनुवाद की विशेषताएं बताई गयी हैं वहीं दूसरी तरफ बर्मी भाषा में अन्य भाषाओं की कालजयी कृतियों के अनुवाद के अभाव को भी रेखांकित किया गया है। बर्मी के सुप्रसिद्ध कवि टिं मोः का लेख 'म्यांमी कविता का विकास और विस्तार' हिंदी साहित्यधर्मियों एवं साहित्य प्रेमियों को निश्चित ही आह्लादित करेगा। यह सही है कि पत्रिका के इस अंक में बर्मी एवं हिंदी साहित्य के मध्य कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं दिया गया है। केवल कुछ लेखों में बर्मी साहित्य पर पालि भाषा और संस्कृत व हिंदी साहित्य के प्रभाव का वर्णन है। परंतु

उपर्युक्त लेख को पढ़कर बर्मी साहित्य एवं हिंदी साहित्य के मध्य शास्त्रीय एवं प्रवृत्ति संबंधी समानता का ज्ञान होता है।

हिंदी और बर्मी साहित्य की प्रारंभिक प्रवृत्ति काव्य सृजन रही है। टिं मोः लिखते हैं "अन्य विधाओं की कमी का संभावित कारण यह भी हो सकता है कि म्यांमीय लोग, कविता या काव्य से अधिक प्यार करते थे। उनका जीवन पालने से लेकर श्मशान घाट तक, कविता से जुड़ा रहा है। उनके लिए कविता से मुक्त कोई खेल, काव्य रहित कोई प्रेम प्रसंग और छंद से मुक्त कोई त्यौहार नहीं है। म्यांमीय कविता संपूर्ण राष्ट्र का प्रतीक है।" (पृष्ठ-24)

एक तरफ बर्मी कविता का आरंभिक काल छंदबद्ध कविता का है वहीं, प्रतिपाद्य विषय के लिहाज से बर्मी कविता का आरंभिक काल धार्मिक कविता या भक्ति कविता का रहा है। बर्मी कविता के विकास का दूसरा चरण वीर काव्य एवं श्रृंगार काव्य से भरपूर रहा है। हिंदी साहित्य में प्रथम वीरगाथा काल, द्वितीय भक्तिकाल व तृतीय रीतिकाल है लेकिन क्रम में परिवर्तन के अलावा दोनों भाषाओं के साहित्य में कोई भिन्नता नहीं है। यही नहीं बीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन विधा एवं विचार के स्तर पर हिंदी साहित्य में हुए वही बर्मी साहित्य में भी हुए।

इस लेख में एक स्थापना दी गयी है कि "उबलते हुए अशांत समय में कविता उन्नति नहीं कर सकती, खिल नहीं सकती।" (पृष्ठ-29) तथा "जब देश में अशांति और अराजकता फैलती है तथा आर्थिक स्थिति बिगड़ती है तो कवि एवं साहित्यकार की कल्पना भी मंद पड़ जाती है।" (पृष्ठ-30) इन स्थापनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे बर्मी रचनाकार केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही अच्छी रचना कर सकते हैं, विषम परिस्थितियों में उनकी प्रतिभा का क्षय हो जाता है। यह बात कहां तक सही है इस पर बर्मी साहित्यकारों को विचार करना चाहिए। वैसे पृष्ठ तीस पर अगली पंक्तियों में ही कहा गया है कि रचनाकारों का अपनी कल्पना और अपने ख्यालों में डूबे रहना उचित नहीं होता। अपने समय व परिवेश से उसका जुड़ाव ही उन्हें सच्चा रचनाकार बना सकता है। यहां दोनों बातों में एक प्रकार का विरोधाभास भी नजर आता है। साथ ही इस लेख में विभिन्न रचनाकालों को स्पष्ट नहीं किया गया है जो कि एक बड़ी कमी है। इस लेख में कुछ स्थानों पर अनुवाद दोष भी हैं। उदाहरणार्थ 'जरूरत के बिना अनावश्यक रीति अलंकार और श्रृंगार नहीं। 'यटु' जैसी लघु कविता 'काव्यवृक्ष' न होने पर भी बेवजह लंबी और उबाऊ न होकर संक्षेप में अपनी बात कह सकती है।' (पृष्ठ-32) इन दोनों वाक्यों में दोष यह है कि प्रथम वाक्य में जरूरत के बिना तथा अनावश्यक में से एक बात लिखी जानी चाहिए थी तथा अलंकार व श्रृंगार में से एक शब्द का ही प्रयोग किया जाना चाहिए था। दूसरे वाक्य को पढ़कर तो हंसी आती है, एक तरफ तो शुरू में ही कहा गया है कि 'यटु' जैसी लघु कविता और बाद में उसके बेवजह लंबी न होने व संक्षेप में बात करने की प्रशंसा की गयी है। कोई कविता यदि मूलरूप में ही लघु है तो उसके लंबी होने का प्रश्न ही नहीं उठता वह तो लघु है ही इसलिए कि अपने छोटे आकार में (जहां विस्तृत वर्णन की गुंजाइश नहीं होती) संक्षेप में अपनी बात कहती है।

इस अंक में प्रकाशित हिंदी एवं अंग्रेजी में अनूदित बर्मी कहानियां एवं कविताएं बहुत अधिक न होने के बावजूद बर्मी साहित्य की समृद्धि का अहसास कराती हैं। इस अंक में प्रकाशित एक मात्र बर्मी लघुकथा 'हमारा शहर' आकार में भले ही लघु है परंतु उसका कलेवर किसी लंबी कहानी अथवा उपन्यास से कम नहीं है। एक लघुकथा में बर्मा के भौतिक विकास व उससे उपजी विडंबनाओं

का मारक चित्रण बहुत बड़ी बात है। मांम्यिं लिखित कहानी 'मेड इन बर्मा' लेखक की सामर्थ्य एवं कल्पनाशीलता की मिसाल है। इस कहानी में लेखक ने एक उच्च अधिकारी के घर में रखी विदेशी वस्तुओं को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सत्ता व प्रशासन द्वारा सृजित विडंबनाओं और मूल्यों के विघटन पर तीखा व्यंग्य किया है।

तेःफेम्यिं की कहानी 'खारे पानी का सोता' बर्मी समाज का यथार्थवादी चित्रण है। यह एक संपूर्ण कहानी है जिसमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का सम्यक चित्रण है। प्रेम, विदेशी शासन के अत्याचार, विद्रोह सामाजिक-आर्थिक विसंगतियां, लगभग हर स्थिति पर लेखक की पैनी नजर पड़ी है। इस पत्रिका में प्रकाशित बर्मी कहानियों की एक प्रमुख विशेषता परिवेश का सजीव चित्रण है। यह कहानीकारों का अतिरिक्त कौशल ही है कि उन्होंने वातावरण के चित्रण द्वारा कहानियों को और अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

जहां तक बर्मी कविताओं का सवाल है, इस अंक में दी गयी सभी कविताएं जो हिंदी में अनूदित हैं, मूलरूप से आधुनिक बर्मी कविताएं है जो समकालीन बर्मी कविता का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। बेहतर होता यदि विभिन्न काल खंड की एक-एक दो-दो कविताएं दी जातीं। फिर भी इस अंक में सम्मिलित कविताओं को पढ़कर यह अहसास तो होता ही है कि कवि चाहे हिंदी का हो, अंग्रेजी का, बर्मी का या अन्य किसी भाषा का उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का क्षेत्र लगभग एक ही है। इस अंक में बर्मी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों की रचनाएं शामिल हैं जिनमें मुख्यतः यथार्थवादी अथवा अस्तित्ववादी स्वर हावी है। टिं मोः की कविताओं 'लालटेन' व 'मां की हालत' में जहां यथार्थवाद की सघनता है वहीं 'अपना लो' तथा 'उदासी दूर हुई' में यथार्थवाद के साथ-साथ मानव जीवन की सार्थकता की तलाश भी नजर आती है। विशेष रूप से जब टि मोः लिखते हैं—

*खिलने की घड़ी में*
*खिलने से ही है खूबसूरती। (पृष्ठ-102)*
*तथा*
*बच्चों की मां को गहरी नींद में सोते पाया*
*तो यह अहसास हुआ मुझे*
*मैं भी बन गया हूं बाप*
*आने वाली पीढ़ी के लिए*
*मुझे बनना चाहिए भरोसे लायक। (पृष्ठ 103)*

ची औं की 'दस्तखत' व 'बर्फीले हिरन', मों य्वाविन् फे की कविता 'फूलों में से फूल' तथा मिः को नांई की कविता प्रतिज्ञा इस अंक की अन्य बेहतर रचनाएं हैं। इस अंक में बर्मी के प्रख्यात अनुवादक ऊ पारगू से चंद्रप्रकाश प्रभाकर की बातचीत है। इस अंक की अधिकांश रचनाओं का अनुवाद उन्होंने ही किया है। इस संदर्भ में कृष्ण केतन द्वारा चंद्रप्रकाश प्रभाकर से की गयी बातचीत भी इस अंक में है। इरावदी पब्लिकेशन द्वारा हिंदी में प्रकाशित बर्मी पुस्तकों की समीक्षाएं भी इस अंक में हैं। इस अंक की एक प्रमुख उपलब्धि है बर्मी कहावतों एवं मुहावरों की प्रस्तुति। □

***पत्रिका : अनुवाद अंक 74-75/मुख्य संपादक : डॉ. गार्गीगुप्त/अतिथि संपादक : डॉ. रणजीत साहा/प्रकाशक : भारतीय अनुवाद परिषद 203, आशादीप, हेली रोड, नयी दिल्ली/ इस अंक का मूल्य-25 रुपये***

# पुष्कर : सांस्कृतिक मूल्यों की जीवंत ताजगी

पूरन सरमा

जयपुर से सुबह आठ बजे बस से रवाना होकर प्रातः दस बजे के आसपास ही अजमेर में था। नवंबर का महीना, हल्की ठण्ड शुरू हो गयी थी, लेकिन गर्म कपड़ों की जरूरत नहीं थी। साथ में कोई नहीं था। बस अकेला थैला लटकाये, जयपुर से रवाना हुआ था। अजमेर उतरते ही हजरत मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह जाने की इच्छा प्रबल हो गयी। सीधा रिक्शा लेकर वहां पहुंचा। संकरी गली के सामने विशाल दरबार लगा था, गरीब नवाज का। गुलाबों की सुगंध से वातावरण महक रहा था। सिर पर रूमाल रखा और प्रवेश किया तो एक आत्मिक शांति का अनुभव हुआ। भीतर यात्रियों की आवा-जाही और भीड़ सर्वधर्म समभाव का अनुपम उदाहरण है ख्वाजा साहब की यह दरगाह। सभी धर्मावलंबियों की मनौती मानने और चौखट पर सजदा करने का हार्दिक भाव। अगरबत्तियों और ताजे गुलाबों की वही प्यारी महक। फकीरों का हुजूम, विशाल देग और मजार के दर्शन के बाद बाहर निकला तो सूरज करीब-करीब सिर के ऊपर आ गया था। बाहर आकर चाय पी। वापस बस स्टैण्ड पर आकर तीर्थराज पुष्कर की ओर रवाना हो गया। आधे घंटे में मैं पुष्कर में था।

छोटा सा कस्बा है पुष्कर। नगरपालिका है। देश का बड़ा तीर्थस्थल होने से सुविधाओं से सुसज्जित इस कस्बे का माहौल देखते ही बनता है। देशी-विदेशी पर्यटकों का अनवरत आवागमन। कुछ एक विदेशी लोग तो वर्षों से यहां अपना अड्डा बनाये हुए हैं। इन बातों से बेखबर यह तीर्थराज अपने आध्यात्मिक माहौल में डूबा मशगूल है अपने ही संगीत में। बस स्टैण्ड पर उतरते ही पण्डे घेरने लगे। मैंने पूजा-अर्चना की एवं अपने पर्यटन का उद्देश्य बताकर उनसे मुक्ति पायी। साफ-सफाई विशेष नजर नहीं आने पर एक चाय की घड़ी वाले से प्रश्न कर लिया मैंने—'क्यों, इतनी गंदगी क्यों फैली है। क्या पालिका प्रशासन ध्यान नहीं देता?'

'नहीं बाबूजी, अभी तीन दिन पहले मेला उठा है। अब की बार दो लाख लोग आये हैं। हर वर्ष कार्तिक की पूर्णिमा को लगने वाले इस मेले में देश-विदेश से लाखों लोग आते हैं। पुष्कर झील में स्नान करने, पुण्य कमाने के लिए।'

'तो यह सब व्यवस्था कौन देखता है?'

'व्यवस्था का काम राज्य पर्यटन निगम के अलावा स्थानीय प्रशासन व जिला प्रशासन की ओर से बखूबी निभाया जाता है। फिर पशुओं की खरीद-फरोख्त का बाजार भी लगता

है। मेले में कृषि का सामान, ऊंटों की खरीद, ग्रामीण संस्कृति से जुड़े दूसरे सामान की बिक्री होती है। दूर-दूर से दुकानदार महीने भर पहले ही आकर दुकान तैयार करने लगते हैं। इतनी रेलम-पेल मची रहती है कि हमारे यहां के स्थानीय व्यवसायी भी अपने पूरे वर्ष की जीविका कमा लेते हैं। मनोरंजन के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम, ऊंट दौड़ तथा पर्यटकों के लिए लोक-संगीत के अन्य मनोरंजक कार्यक्रम भी आयोजित होते हैं। पूरा पर्यटक गांव बसाया जाता है। सिंगल बेड एवं डबल बेड दोनों ही तरह के कक्ष मिल जायेंगे। पूरा कस्बा एक अजीब आवाजाही के कारण मस्ती में सराबोर होकर पूरी रात जागता रहता है।

आगे बढ़ा तो गऊघाट आ गया था। घाटों की तरफ देखा तो पुष्कर सरोवर में पानी धूप से चमक रहा था। घाटों का अद्‌भुत दृश्य देखकर मन विभोर हो गया। चारों तरफ घाटों से घिरी है यह झील। बस सामने का थोड़ा पहाड़ी क्षेत्र खुला हुआ है, जहां से वर्षा का पानी बहकर आता है। पूजा-तर्पणादि करते यात्री, पानी में नहाते धोते यात्री और बस जिधर नजर जाती है, उधर यात्री ही यात्री। भगवान ब्रह्मा का धाम पुष्कर समुद्र तट से 3.30 मीटर ऊंचा है। पद्‌म पुराण की एक कथा के अनुसार भगवान ब्रह्मा ने मृत्युलोक में यज्ञ करने हेतु एक कमल को तीन बार उछालकर उछाला तो उसकी तीन पंखुड़ियां तीन जगह गिरीं। उस जगह ज्येष्ठ, मध्य एवं कनिष्ठ पुष्कर बने। इनके स्वामी बने ब्रह्मा, विष्णु और महेश। यज्ञ कार्तिक शुक्ला एकादशी से शुरू हुआ तथा इसकी पूर्णाहुति हुई पूर्णिमा को। तब से इन्हीं तिथियों पर हजारों वर्षों से मेला आयोजित हो रहा है।

पूजा अनुष्ठान कराने वाले एक पण्डित ने इस कथा के क्रम में बताया कि यज्ञ दीक्षा के समय ब्रह्मा जी के पास उनकी धर्मपत्नी सावित्री जी नहीं थी। सावित्री जी को संदेश मिला तो उन्होंने अपने यहां लक्ष्मी, पार्वती, पवन व इंद्राणी को बुलवाने भेजा। इस बीच मुहूर्त टलने लगा तथा सावित्री जी के पहुंचने पर विलंब हो गया। इसी बीच ब्रह्माजी ने इंद्र महाराज को कोई दूसरी कन्या लाने का आदेश दिया। इंद्र एक गूजर कन्या को लाए तथा उसे गोमुख निकालकर संस्कारित कर दिया। सावित्री जी जब यज्ञस्थल पर पहुंची तो गायत्री को ब्रह्माजी के बराबर बैठा देखकर क्रोधित हो गयीं तथा उन्होंने ब्रह्माजी को शाप दे दिया। अपने बल से गायत्री ने ब्रह्माजी को शाप से निवारित किया और वह यज्ञ संपन्न हुआ। यह घटना सतयुग की है। इसी तरह त्रेता में भगवान राम ने अपने पिता दशरथ का श्राद्ध तर्पण भी यहां किया। द्वापर में पाण्डवों ने कुछ समय अपने वनवास का यहां बिताया। इसके अलावा अनेक प्रख्यात ऋषियों ने भी अपनी तपस्या पूरी की थी। कर्नल टॉड महोदय यहां की प्राकृतिक आभा देखकर मंत्रमुग्ध हो गये थे तथा उन्होंने इसकी चर्चा अपने इतिहास में भी की है।

इस बीच मैंने पुजारी से अनुरोध किया कि वह मुझे यहां के अन्य स्थलों की जानकारी देकर उन स्थानों को भी दिखा देवें। वह मुझे सबसे पहले ब्रह्मा मंदिर ही ले गए। बहुत ही भव्य परिसर में स्थित है ब्रह्मा मंदिर। ऊपर स्वर्ण कलश है संगमरमर के काम से सुसज्जित यह मंदिर आदिकाल में नष्ट हो गया था, लेकिन आदि शंकराचार्य ने इसका जीर्णोद्धार

करवाया। इस मंदिर में इसी पीठ के आदेश से मठाधीश नियुक्त किये जाते हैं। इसी मंदिर परिसर में गौरी शंकर, सूर्यनारायण, नवग्रह, पंचमुखी महादेव व नारद आदि के मंदिर पृथक से हैं। मंदिर की शिल्प कला को देखकर मन आह्लाद से भर उठा। एक अन्य भव्य मंदिर है रंगजी का। यह मंदिर सवा सौ वर्ष पुराना है। काले पत्थर की प्रतिमा का पूजन पूरे विधि-विधान से होता है तथा यहां की पूजा का महात्म्य विशेष है। यहां की आरती में सैकड़ों नर-नारी इकट्ठे होते हैं तथा घण्टे भर तक भजन-कीर्तन चलता है। यहां की छतों तथा स्तंभों पर उत्कीर्ण कला वैभव को देखकर अचरज के साथ आंखें खुली रह जाती हैं।

पुजारी जी मुझे नागकुण्ड ले गए। इसकी भी एक कथा बताने लगे कि ब्रह्माजी के पौत्र वंटु ने यज्ञशाला में यज्ञ छोड़ दिया था, जो भृगु ऋषि के पांवों से लिपट गया। भृगु महाशय ने उसे सर्प बनने का शाप दे दिया। ब्रह्माजी ने उसे धीरज बंधाया तथा कहा कि वे नागों के नवें कुल का संचालन करेंगे। वे वहीं नाग पर्वत पर रहने लगे। वहीं आश्रम के पास ही नागकुण्ड है। सावन में नागपंचमी को स्नान-पुण्य करना महत्वपूर्ण माना गया है। आगे काफी चलना पड़ा और रत्नगिरि पर्वत पर सावित्री मंदिर के दर्शन किए। यहां माता सावित्री के दो चरण तथा पुत्री सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की हुई है। बहुत ही अलौकिक प्राकृतिक आभा से भरपूर स्थल है यह भी। शॉप विमोचनी गायत्री का मंदिर सरोवर से उत्तर-पूर्व पर एक छोटी पहाड़ी पर है। यहां से पुष्कर और उसके आस पास का पूरा दृश्य दिखायी देता है। गायत्री जी ने सावित्री के पाप से ब्रह्माजी को शाप मुक्त कराया था इसलिए इसकी महत्ता अपने आप ही बढ़ गई है।

शिव मंदिरों की अनंत श्रृंखला है पुष्कर में। पुजारी (पण्डा) ने कहा—'आत्मतेश्वर महादेव का मंदिर अद्भुत तथा चमत्कारिक है। यह गर्भ में है तथा 1861 ई. में जब अजमेर में मराठा शासन था, तभी बनवाया था।' इसकी भी एक कथा सुनायी जिसमें एक नंग-धड़ंग व्यक्ति द्वारा ब्रह्माजी के यज्ञ में खोपड़ी फेंकने का प्रसंग आता है। यह नंग-धड़ंग व्यक्ति कोई नहीं स्वयं भगवान शंकर थे जिनकी स्थापना इसी जगह भगवान ब्रह्मा ने की। कई अन्य महादेव मंदिर भी यहां देखने को मिले। रमा बैकुण्ठनाथ मंदिर की मुंह बोलती छवि को देखकर मन हर्ष से विभोर हो गया। मेले के अवसर पर रामानुज संप्रदाय के इस मंदिर की भव्य शोभायात्रा भी निकाली जाती है। यहां का गरूण स्तंभ का भव्य कलात्मक वैभव दर्शनीय है। प्राची-सरस्वती नदी में ब्राह्मण कार्तिक में स्नान करके अपने वंशजों को याद करते हैं। आगे जाकर यह नदी लूणी नदी बन जाती है तथा कच्छ की खाड़ी में जा गिरती है।

अण्डाकार पुष्कर झील के चारों ओर बसा है पुष्कर गांव भी। दस मीटर गहरे इस के पांच किलोमीटर की परिधि में पानी है। करीब 60 घाट हैं यहां, इनमें से गऊ घाट, ब्रह्मा घाट, नृसिंगघाट मुख्य हैं। इन घाटों पर यजमानों तथा पण्डों की भीड़ हर समय देखी जा सकती है। गऊ घाट का विशेष महात्म्य इसलिए है कि एक तो यह बीच बाजार में है तथा यहां से सरोवर का दृश्य बहुत ही मनोहारी रूप में दिखायी देता है। दूसरे यहां गुरु

गोविंदसिंह जी ने गुरु ग्रंथ का 1705 में पाठ किया था। राजस्थान के विविध राजाओं तथा रजवाड़ों के जागीरदारों ने अनेक घाटों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार करवाया जो आज भी मन मोहक स्वरूप में हमें यहां उपलब्ध है। पुष्कर में बीसियों धर्मशालायें, खाने-पीने के शाकाहारी ढाबे, नल पानी, बिजली, बैंक, स्कूल सारी सुविधायें हैं। देर रात को मैं बस से जयपुर लौट आया था—लेकिन स्मृतियां अभी भी ताजा बनी हुई हैं। ☐

# सांस्कृतिक गतिविधियां

## मई

*भारतीय भाषा संगम की ओर से राष्ट्रीय हित में भारतीय भाषाओं को उनका न्यायोचित स्थान दिलवाने के परिप्रेक्ष्य में पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह के जन्मदिवस समारोह पर एक गोष्ठी फाईन आर्ट्स थियेटर में आयोजित हुई। समारोह की अध्यक्षता पूर्व केंद्रीय मंत्री एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे ने की। भारतीय लेखक मंच की ओर से आयोजित परिचर्चा-संगोष्ठी में विषय थाः सामाजिक चेतना : लेखक एवं पत्रकार का दायित्व। इस अवसर पर कार्यक्रम की अध्यक्षता पद्मश्री क्षेमचंद्र 'सुमन' ने की। मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित थे पद्मश्री चिरंजीत। विशिष्ट अतिथि थे प्रो. हरभजन सिंह एवं कन्हैयालाल नंदन। कार्यक्रम का संचालन कवि राहुल ने किया। 'अदिति' के तत्वावधान में आठवें दशंक के कवि, कथाकार, रंगकर्मी केवल सूद के अर्द्धशतक पर पूरी गोष्ठी श्री सूद के रचनाकर्म पर केंद्रित रही। गोष्ठी का संचालन संयुक्त रूप में व्यंग्यकार हरीश नवल और प्रेम जनमेजय ने किया।*

*साहित्य अकादेमी की ओर से लेखक से भेंट कार्यक्रम के तहत ओड़िया लेखक रमाकांत रथ से मुलाकात इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित की गई।*

*गुरु रवींद्रनाथ टैगोर के जन्म दिवस के अवसर पर बालभवन में सांस्कृतिक कार्यक्रम के तहत कवि श्री मंगलेश डबराल और राधेश्याम प्रगल्भ ने अपनी कविताएं सुनाईं।*

*गालिब अकादेमी ने नजीर अकबराबादी पर एक गोष्ठी का आयोजन किया। हिमाचल-भवन में आयोजित कथाकार श्री मुरारीलाल त्यागी रचनावली का लोकार्पण श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता विजयेंद्र स्नातक ने की। इस अवसर पर अनेक साहित्यकार उपस्थित थे।*

*ईरानी कल्चरल हाउस ने अखिल भारतीय फारसी अध्यापक सेमीनार का आयोजन किया। ईरान के उपसंस्कृति मंत्री अली जन्नति ने इस सेमीनार का उद्घाटन किया। इस अवसर पर श्री जन्नति ने डॉ. अख्तर मेंहदी की पुस्तक 'शाह मुहम्मद अजमल इलाहाबादी*

व अदबे फारसी' का विमोचन किया। समारोह में मुख्य अतिथि थे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री एम.आर. रेड्डी।

जनवादी लेखक संघ ने प्रयाग शुक्ल का काव्य पाठ विट्ठल भाई पटेल हाउस में आयोजित किया। इस अवसर पर श्री शुक्ल ने अपनी ताजा कविताएं सुनाकर श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया।

रवींद्रनाथ ठाकुर की 132वीं जयंती के अवसर पर प्रमुख कलाकारों, संस्थाओं और विद्यालयों द्वारा गीतों और कविताओं की प्रस्तुति की गई। कार्यक्रम का आयोजन संगीत नाटक, ललित कला और साहित्य अकादेमी, पश्चिम बंगाल सरकार और बंगाल एसोसिएशन ने किया।

उर्दू अकादेमी की ओर से राजधानी में उर्दू के जाने-माने पंद्रह साहित्यकारों, लेखकों और कवियों को उनकी कृतियों के लिए पुरस्कृत किया गया। समकालीन युवा कवि श्री वीरेन डंगवाल को वर्ष 1992 के 'श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार' के लिए चुना गया है। यह पुरस्कार उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'इसी दुनिया में' के लिए मिला है। हास्य-व्यंग्य कवि प्रो. मधुप पांडेय को प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने राष्ट्रीय सम्मान 'काका हाथरसी पुरस्कार' से सम्मानित किया। इस अवसर पर प्रधानमंत्री ने प्रो. पांडेय की काव्यकृति 'मां' का लोकार्पण भी किया। समारोह की अध्यक्षता वेद प्रताप वैदिक और गंगाप्रसाद विमल ने संयुक्त रूप में की। समारोह के दूसरे चरण में रूसी सांस्कृतिक केंद्र में भव्य काव्य गोष्ठी आयोजित की गई जिसमें अनेक कवियों ने अपनी रचनाएं सुनाईं।

छत्रसाल जयंती के अवसर पर राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने कैलाश मड़वैया की पुस्तक 'बुंदेलखंड के इतिहास पुरुष' का विमोचन किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री यशपाल जैन ने की।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की 19वीं पुण्य तिथि पर दिनकर अकादेमी एवं संस्थाओं द्वारा संयुक्त रूप से श्रद्धांजलि समापन समारोह आयोजित किया गया। समारोह में मुख्य अतिथि थे पोलैंड के राजदूत प्रो. ब्रिस्की। कार्यक्रम की अध्यक्षता राजेंद्र अवस्थी ने की।

प्रख्यात व्यंग्यकार स्व. शरद जोशी का जन्म दिवस समारोह राजधानी में संपन्न हुआ। कार्यक्रम का आयोजन राजस्थान क्लब ने किया। दो खंडों में विभाजित कार्यक्रम के प्रारंभ में हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री भजनलाल ने हास्य-व्यंग्यकार श्री श्रीलाल शुक्ल को 51 हजार रुपये के शरद जोशी सम्मान से अलंकृत किया। इस अवसर पर लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटील ने शरद जोशी के व्यंग्य संकलन 'जादू की सरकार' का लोकार्पण किया।

पेन ऑल इंडिया सेंटर द्वारा आयोजित एक समारोह में गुजरात की प्रसिद्ध कवयित्री सुश्री संस्कृति रानीदेसाई ने अपनी कविताओं का वाचन किया। कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद निस्सीम एजकील और रामेश्वरचंद्र सरकार ने प्रस्तुत किया।

*दूरदर्शन संवाददाता नीलम महाजन सिंह के प्रथम काव्य संग्रह 'ओशन ऑफ लव' का विमोचन विदेश राज्यमंत्री श्री सलमान खुर्शीद ने किया।*

*युवा कवयित्री अनिता अनिलाभ के काव्य-संग्रह 'उगते सूरज की बांसुरी' का विमोचन त्रिवेणी सभागार में डा. श्यामसिंह शशि ने किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने निदेशक डॉ. गंगा प्रसाद विमल ने की।*

***प्रदर्शनी*** *राजधानी दिल्ली की श्रीधराणी कला दीर्घा में तीन युवा कलाकार अजय कुमार 'समीर' कपिल किशोर और धरमिंदर कालरा की कलाकृतियों की प्रदर्शनी लगी। इस प्रदर्शनी में उनके 15 चित्रों का प्रदर्शन हुआ। अधिकांश चित्रों में लाल, नीले और पीले रंगों का प्रयोग बड़ी खूबसूरती से किया गया था। प्रदर्शनी में 'बनारस श्रृंखला' और 'मेरे गांव में' चित्र बेहद आकर्षक थे।*

*त्रिवेणी कला दीर्घा में एम. आनंद स्वरूप के लैंड स्केपों की प्रदर्शनी में कुल 12 चित्र प्रदर्शित किए गए। पहाड़ों का अनुपम सौंदर्य, घाटियों से टकराती बहती नदियां, बादलों का चित्रण आदि विषय से संबंधित चित्र बरबस ध्यान आकर्षित कर रहे थे। श्री स्वरूप ने अपने चित्रों में प्राथमिक रंगों का भरपूर प्रयोग किया है। शायद यही वजह थी कि उनके चित्रों में 'माउंटेन मूड्स' और 'मैजेस्टिक पीक' दर्शनीय बन पड़े थे।*

*'अवंतिका' कला संस्था की ओर से आरसी कला दीर्घा में चौदह कलाकारों के चालीस चित्र और दस मूर्तिशिल्पों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। सेंटर फॉर कांटेप्रेरी आर्ट द्वारा 'सर्कलिंग द स्कवेयर' के तहत आठ कलाकारों की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। आईफैक्स कला दीर्घा में ज्योति नागपाल द्वारा बनाई पेंटिंग की प्रदर्शनी लगी। एलटीजी आर्ट गैलरी में सुमंत्र सेन गुप्ता की चित्रकला एवं कलाकृतियों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। राजधानी के ताज होटल में स्वामी सुंदरानंद के गढ़वाल हिमालय पर लिए गए चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की गई। स्वामी जी के लिए गए चित्रों में ऐसी भावना है कि मन अनायास कह उठता है, हमारा भारत।*

*सेना का कठिन जीवन जीने वाले लेफ्टिनेंट जनरल मोती दर के चित्रों की प्रदर्शनी त्रिवेणी कला संगम में आयोजित हुई। श्री दर के चित्रों में यथार्थ की तस्वीर है, वक्त की पकड़ है, समय का चित्रण है। इनके चित्रों में पीला, लाल, भूरा और हरा रंग अपनी अभिव्यक्ति के पक्ष को प्रबल करता है। अपने चित्रों के बारे में श्री मोती दर का कहना है "रेगिस्तान जैसा विराट कैनवास दूसरा शायद ही कोई हो, वहां पहुंचते ही मुझे लगता है, जैसे अपनी खामोशी में रेगिस्तान मुझे से बात कर रहा हो।"*

*साठ के दशक के चर्चित चित्रकार यंगसिंह 'यंगो' की चित्र प्रदर्शनी राजधानी के रवींद्र भवन में आयोजित हुई। प्रदर्शनी का उद्घाटन श्री भवेश सान्याल ने किया। यंगों के चित्रों में मानवीय मूल्यों की सर्जनात्मक शक्ति, जिंदगी का जीवित ऊहा-पोह और कल्पना का चित्र सजीव बन पड़ा है। यंगों के चित्रों का ठोस आधार उनकी रचना प्रक्रिया का*

तकनीकी पहलू है जिसे देखकर लगता है कि यंगों ने अपने को अपने चित्रों में ढाल दिया हो।

राष्ट्रीय संग्रहालय में आयोजित उन्नीसवीं सदी के मशहूर भारतीय चित्रकार राजा रवि वर्मा की चित्र प्रदर्शनी का उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने किया। इस अवसर पर श्री राव ने कहा कि भारत की हर झोपड़ी में राजा रवि वर्मा के चित्र हैं।

त्रिवेणी कला दीर्घा में खालिद बिन सोहेल के मूर्तिशिल्पों की प्रदर्शनी आयोजित हुई।

साहित्य कला परिषद दिल्ली द्वारा आयोजित बाईसवीं वार्षिक कला प्रदर्शनी का उद्घाटन श्री हबीब तनवीर ने किया व समारोह की अध्यक्षता मुख्य सचिव दिल्ली श्री आर.के. टक्कर ने की। इस अवसर पर पांच कलाकारों को पुरस्कृत भी किया गया।

**नृत्य/संगीत** हौजखास स्थित संस्थागत सेंटर फॉर इंडियन क्लासिकल डांसेस के तत्वावधान में भरतनाट्यम और ओडिशी की प्रसिद्ध नृत्यांगना सोनल मान सिंह के निर्देशन में एक नृत्य प्रस्तुत किया गया। 'गंगा-साक्षी' शीर्षक से प्रस्तुत नृत्य नाटिका को सोनल की शिष्याओं ने प्रस्तुत किया।

त्रिवेणी सभागार में कृष्ण ललित कला केंद्र की ओर से कथक नृत्य का आयोजन किया गया।

वर्ष 1993 का संस्कृति संगीत सम्मान प्रसिद्ध संगीतकार पं. भीमसेन जोशी को प्रदान किया गया है। इसी वर्ष का संस्कृति नृत्य पुरस्कार प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्यांगना सुश्री विजय लक्ष्मी को दिया गया है। एक समारोह में प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने दोनों कलाकारों को सम्मानित किया।

**रंगमंच** रंगमंच समाज की उस व्यवस्था का दर्पण है जिससे व्यक्ति आत्मसात करते हुए अनुभव की उस असंबद्ध श्रृंखला तक जा पहुंचता है जहां वह अपने आपको अव्यवस्थित पाता है। खोखला महसूस करता है। जरूरी नहीं कि ऐश्वर्य या फिर भौतिक वादी युग में जी रहा प्राणी अपने आप से संतुष्ट है। संतुष्टि स्वाद की वह अलौकिक सत्ता है जिसका स्वाद कभी खत्म नहीं होता पर परिवर्तन जरूरी है चाहे कविता हो, कहानी हो एकांकी रही हो या फिर नाटक। आज जरूरत है सक्रियता की, सजगता की। समाज में निष्प्राण हुए उन मूल्यों को पुनः स्थापित करना होगा और यथार्थ का साक्षात्कार ही मानवीय चिंतन का आधारभूत स्तंभ है जिस पर पूरी व्यवस्था टिकी है सभी उपक्रम सभी नीतियां और सुलझती हुई सभी उलझनें।

एक ताजा उदाहरण देना चाहूंगा, राजधानी दिल्ली की नवोदित नाट्य संस्था 'रंगभूमि' ने दीपक ठाकुर के निर्देशन में सुपरिचित लेखिका मन्नू भंडारी के नाटक 'महाभोज' का मंचन श्रीराम सेंटर के प्रेक्षागृह में किया।

दर्शकों द्वारा प्रशंसित 'महाभोज' वास्तव में 'रंगभूमि' के सीमित साधनों के बावजूद चुनौती को अंजाम दे सका। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता थी सिनेमाई संपादन।

*इसकी प्रस्तुति मंचीय व्यवस्था की विधा से कुछ हटकर थी। शायद यही वजह थी कि कहीं भी दर्शक नाटक से उकता नहीं रहे थे। नाटक की कहानी का विषय हरिजन बस्ती के निवासियों और जमींदार के बीच की व्यथा कथा पर आधारित है। अभिनय की दृष्टि से सभी कलाकारों का प्रदर्शन बढ़िया रहा। यह वही नाटक था जिसमें भारी ताम झाम झोंककर भी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय उतनी सफल प्रस्तुति का दावा नहीं कर पाया।*

*राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तीसरे वर्ष के छात्रों ने अपनी सामूहिक प्रतिभा को उजागर किया चेक उपन्यास पर आधारित नाटक 'रोमियो जूलियट और अंधेरा' में। निखिलेश शर्मा द्वारा निर्देशित यह नाटक सफल रहा।*

*राजधानी दिल्ली के श्रीराम सेंटर के सभागार में 'पंछी प्यार के' नाटक का मंचन हुआ, नाटक 'बोइंग बोइंग' का हिंदी रूपांतरण सुरेंद्र गुलाटी ने किया।*

*भारतीय शिक्षा पद्धति पर आधारित नाटक 'वी ग्रेजुएट्स' का मंचन श्रीराम सेंटर में 'ड्रामा प्लस थियेटर ग्रुप' ने प्रस्तुत किया। प्रस्तुत नाटक लक्ष्मीकांत वैष्णव की कहानी पर आधारित है। नाटक का रूपांतरण एवं निर्देशन किया गुरुदत्त पांडे ने। श्रीराम सेंटर में 'लोकसंस्कृति' संस्था की ओर से नाटक 'पति गये रे काठियावाड़' का मंचन किया गया। वेंकटेशमदागुलकर की इस रचना का हिंदी अनुवाद और निर्देशन सुधीर कुलकर्णी ने किया।*

*कमानी सभागार में नाट्य संस्था 'कीड्स वर्ल्ड' की ओर से नाटक 'लिटल मरमेड' का मंचन हुआ। इस नाटक की विशेषता यह थी कि इसमें चार से उन्नीस वर्ष के बच्चों ने हिस्सा लिया और अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया।*

*श्रीराम कला केंद्र के सभागार में मंचित कथा विहीन नाटक 'है वही बात यूं भी और यूं भी' (इंसीडेट ऐट विची का रूपांतर) की सफल प्रस्तुति रही।*

## जून

*जून के प्रथम सप्ताह राजधानी दिल्ली के आईफैक्स सभागार में 'ओडीशी' संगठन की पत्रिका 'मधुशाला' का विमोचन, समारोह के मुख्य अतिथि केंद्रीय रेल राज्य मंत्री के.सी. लेंका ने किया।*

*टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन की ओर से कवि सम्मलेन का आयोजन फिक्की सभागार में किया गया। सम्मेलन में अनेक चर्चित कवियों ने काव्य पाठ किया। कवि सम्मेलन का उद्घाटन केंद्रीय मंत्री श्रीमती कृष्णा साही ने किया। मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित थे नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक डॉ. विद्यानिवास मिश्र।*

*राजधानी दिल्ली के एक कार्यक्रम में लेखक ओंकार त्रिपाठी की पुस्तक 'राजीव कल्पतरु मेरी धरा का' का विमोचन पूर्व सूचना एवं प्रसारण मंत्री एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे ने किया। इस अवसर पर अनेक पत्रकार और साहित्य प्रेमी उपस्थित थे।*

राजधानी दिल्ली में आयोजित एक समारोह में स्वतंत्रता सेनानी, पत्रकार और साहित्यकार डॉ. आनंदी प्रसाद माथुर के 80वें जन्म दिवस पर उन्हें कवि सभा ने अपनी सर्वोच्च उपाधि 'काव्य वैभव' से सम्मानित किया। समारोह का उद्घाटन डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने किया। मुख्य अतिथि संसद सदस्य शांति त्यागी। इस अवसर पर श्री माथुर की दो पुस्तकें 'समर्पित व्यक्तित्व' 'दिवंगत हिंदी सेवी, एक मूल्यांकन' का लोकार्पण किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता साहित्यकार आचार्य क्षेमचंद्र 'सुमन' ने की।

केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय में 'कबीर' के शोध ग्रंथों व साहित्यिक पुस्तकों की प्रदर्शनी का उद्घाटन शहरी विकास राज्य मंत्री श्री पी. के. थुंगन ने किया। प्रदर्शनी में अनेक साहित्य प्रेमियों ने अपनी रुचि दिखलाई।

राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने दिल्ली संस्कृत अकादेमी द्वारा आयोजित तीन दिवसीय आखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा कि संस्कृत भाषा वह केंद्रीय भाषा है जिसके माध्यम से देश की अन्य भाषाओं को आसानी से सीखा जा सकता है।

डॉ. शर्मा ने कहा कि संस्कृत मानव जाति के अत्यंत प्राचीन सार्वभौमिक और गूढ़ चिंतन के भार को वहन करने वाली भाषा है। राष्ट्रपति ने कहा कि देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी संस्कृत को देश के पूर्वजों की सबसे बड़ी, सबसे मजबूत, सबसे ताकतवर और सबसे कीमती धरोहर बताया था।

'स्वीकृति' साहित्यिक मंच ने युवा काव्य गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी में युवा कवि जसवीर त्यागी और अशोक वशिष्ठ की कविताएं सराही गईं।

**प्रदर्शनी** जून की शुरुआत लू के तेज झोकों के साथ हुई और इसका सीधा-सीधा असर पड़ा कलाकारों पर, कलादीर्घाओं की उपस्थिति पर। पर मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु प्रवृत्ति का रहा है। अतः थोड़ा ही काम हुआ पर छुटपुटे रूप में।

सेंटर फॉर कंटेंपरेरी आर्ट के तत्वावधान में दक्षिण अफ्रीका पर एक प्रदर्शनी का उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने किया।

तीस जनवरी मार्ग पर गांधी स्मृति के तत्वावधान में दक्षिण अफ्रीका पर एक प्रदर्शनी का उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने किया।

बाल भवन में 'सांस्कृतिक शिल्प संरक्षण सत्र' नामक एक माह तक चलने वाली कार्यशाला का उदघाटन भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे ने किया। इसमें देश के जाने माने कलाकार छात्रों को प्रशिक्षण देंगे। इस अवसर पर आयोजित समारोह में श्री निरंजन देसाई, महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भी उपस्थित थे।

'विलेज गैलरी' में मंजरी चक्रवर्ती, सलील साहनी, बुलबुल शर्मा, अर्पणा कौर, माधवी पारेख और शमशाद हुसैन आदि कलाकारों के चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की गई। धूमीमल गैलरी में देश के जाने माने नौ चित्रकारों की पेंटिंग्स की प्रदर्शनी आयोजित

हुई। वडेरा आर्ट गैलरी में आयोजित 'माई नेम इज टुडे' नामक शीर्षक के अंतर्गत बच्चों के द्वारा बनाए गए चित्रों का प्रदर्शन हुआ। अधिकतर चित्रों में सम्मोहक शक्ति और पर्यावरण से गहरा प्रदर्शित लगाव था।

**नृत्य/संगीत** राजधानी दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में 'गणेशनाट्यालय' के तत्वावधान में लखनऊ निवासी ज्ञानेंद्र ने भरतनाट्यम शैली में 'अरंगेत्रम' की पहली प्रस्तुति की। त्रिवेणी में आयोजित अपने 'अरंगेत्रम' में ज्ञानेंद्र ने कौतुवम, अलारिपु, जातिस्वरम, महाभारत शब्दम और वर्णनम् से लेकर 'नटनम आदिनारद' और 'गोवर्धन गिरधर' जैसे पद तक को प्रस्तुत करते हुए अपनी सहजता का परिचय दिया।

साहित्य कला परिषद् ने बच्चों के नैतिक विकास के लिए चित्रकला नृत्य-संगीत की पंद्रह दिन की कार्यशाला राजधानी दिल्ली में आयोजित की। इस अवसर पर अनुभवी शिक्षकों द्वारा कुछ सीखने की ललक विद्यार्थियों में कहीं ज्यादा दिखाई दे रही थी।

**प्रस्तुतिः लालित्य ललित**

## निधन

प्रतिष्ठित कन्नड़ लेखक डा. सिम्पी लिंगन्ना का चार मई की सुबह संक्षिप्त बीमारी के बाद निधन हो गया। वे नवासी वर्ष के थे। डॉ. लिंगन्ना ने जनपद साहित्य पर करीब सौ पुस्तकें लिखी हैं। उन्हें 1967 में कर्नाटक साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला था।

**ग्यारह मई** को समकालीन हिंदी कविता के सशक्त हस्ताक्षर तथा दूसरा सप्तक के प्राणवान स्वर शमशेर बहादुर सिंह का अहमदाबाद में निधन हो गया। हिंदी कविता में छायावाद की वृहत्रयी के बाद हिंदी काव्य क्षितिज पर उभरे कवियों में अज्ञेय और मुक्तिबोध के संग-संग शमशेर नयी कविता की त्रिवेणी थे। शमशेर का पहला संकलन 1959 में प्रकाशित हुआ जब वे 48 वर्ष के थे। जीवन के प्रति उनमें गहरा लगाव था।

13 जनवरी 1911 को देहरादून में जन्मे शमशेर ने अपने सृजन के सर्वाधिक उर्वर वर्ष इलाहाबाद और उज्जैन में व्यतीत किए। 'चुका भी हूं नहीं मैं' उनके काव्य-संग्रह के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्रदान किया गया था। बरसों बाद उन्हें मध्य प्रदेश शासन का 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' तथा'कबीर सम्मान' भी प्रदान किया गया। 1948 से 1954-55 तक वे इलाहाबाद में 'माया' के सहायक संपादक रहे और बाद मे 'मनोहर कहानियां' और 'नया पथ' पत्रिकाओं से भी संबद्ध रहे।

हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार पंडित द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' का लंबी बीमारी के बाद निधन हो गया। 15 सितंबर 1915 को उत्तर प्रदेश के बदायूं जिले के कुमार

गांव में निर्गुण जी का जन्म हुआ था। निर्गुण जी वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के अध्यक्ष रहे थे, लेकिन उनका कहानीकार तभी से सक्रिय हो गया था जब वे सोलह वर्ष के थे। 1931 में दिल्ली से प्रकाशित होने वाले श्री ऋषभचरण जैन के पत्र 'चित्रपट' में उनकी पहली कहानी छपी। निर्गुण के 1940 से 55 तक के समय में अनेक कहानी संग्रह चर्चित हुए जिनमें से 'पूर्ति' (1940) 'बहूजी' (1941) 'ढीला' (1945), 'कच्चा धागा' (1947), 'प्यार के भूखे' (1954) 'टूटे सपने' (1954) और जिंदगी' (1955) 'आसरा' 'खोज' 'बच्चे' और 'छोटा डॉक्टर' उल्लेखनीय हैं।

पश्चिम बंगाल के राज्यपाल प्रोफेसर सैयद नुरुल हसन का बारह जुलाई को कलकत्ता में निधन हो गया। उनके पार्थिव शरीर को कलकत्ता से विशेष विमान द्वारा दिल्ली लाया गया और जनता के दर्शनार्थ राज्य सरकार के गेस्ट हाउस में रखा गया।

प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव तथा उनके मंत्रिमंडलीय सदस्यों ने प्रो. नुरुल हसन को श्रद्धांजलि अर्पित की।

प्रसिद्ध शास्त्रीय गायक उस्ताद निसार हुसैन खान का सत्रह जुलाई को अपने निवास स्थान कलकत्ता में निधन हो गया। पद्म भूषण से सम्मानित उस्ताद निसार हुसैन खान पिछले काफी वर्षों से कलकत्ता में रह रहे थे।

रामपुर सहसवान घराने के प्रसिद्ध गायक उस्तादखां के साथ ही ख्याल गायकी की भव्य इमारत का एक और प्रमुख स्तंभ ढह गया। 88 वर्षीय उस्ताद द्रुतलय की तराना गायकी के विशेषज्ञ माने जाते थे।

वयोवृद्ध पत्रकार और टाइम्स ऑफ इंडिया के पूर्व प्रधान संपादक श्री गिरिलाल जैन का उन्नीस जुलाई को निधन हो गया। वे यकृत की बीमारी से पीड़ित थे।

तीन दशक तक पत्रकारिता जगत में रहे श्री जैन बारह वर्ष तक टाइम्स ऑफ इंडिया के प्रधान संपादक थे।

प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने श्री जैन के निधन पर शोक प्रकट करते हुए उन्हें विशिष्ट पत्रकार बताया और कहा कि उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए उन्हें पद्मभूषण से अलंकृत किया गया था।

गिरिलाल जैन का जन्म 1922 ई. में हरियाणा के सोनीपत में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा ग्रामीण स्तर पर करने के बाद दिल्ली के हिंदू कालेज से इतिहास में बी.ए. किया। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान वह काफी सक्रिय रहे। 1943 में कुछ समय जेल में बिताने के बाद 1948 में श्री जैन ने 'न्यूज क्रोनिकल' नामक अखबार में काम किया। 1970 में टाइम्स ऑफ इंडिया के स्थानीय संपादक बनाए गए। अंतिम समय में वह अपनी आत्मकथा लिख रहे थे जो पूरी न कर पाए थे।

इन सब को हमारी विनम्र भावांजलि

# पत्र-पत्रांश

'गगनाञ्चल' मैंने पहली बार देखा। आश्चर्यचकित हूं कि एक अच्छी पत्रिका से संपर्क करने में इतने दिनों का विलंब हुआ। वस्तुतः हिंदी में साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका का ऐसा अकाल है कि लेखकों, पाठकों का ध्यान अभाव की ओर अधिक केंद्रित हो गया है जब कि इस अकाल में जो कतिपय अच्छी पत्रिकाएं आ रही हैं उन पर ध्यान केंद्रित होना चाहिए। इस अंक से लगा कि न केवल आपकी पत्रिका जीवंत साहित्य के स्पंदनों से गुंजित है बल्कि लोकोन्मुखी साहित्य की अंतःसलिला से पूर्णतः संपृक्त भी है।

*शिव प्रसाद सिंह, सुधर्मा, 13, गुरुधाम कालोनी, वाराणसी*

आपके द्वारा संपादित 'गगनाञ्चल' हमें नियमित रूप से प्राप्त हो रहा है। पत्रिका में हिंदी के विशिष्ट साहित्यकारों की रचनाएं विभिन्न विषयों पर प्रकाशित होती हैं और यह सभी ज्ञानवर्द्धक व शोधपरक होती हैं। इस पत्र ने हिंदी पत्रिका में अपना एक अलग स्थान बना लिया है। कुशल संपादन के लिए मेरी बधाई स्वीकारें।

*बालशौरि रेड्डी, निदेशक भारतीय भाषा परिषद् 36-ए शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-17*

'गगनाञ्चल' का स्तर सामग्री-संकलन और गुणवत्ता की दृष्टि से दिनानुदिन ऊंचा उठता जा रहा है। यह देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। इस त्रैमासिक पत्रिका के अंक का प्रकाशन आपके संपादन-काल में लगभग नियमित होता जा रहा है। यह भी हिंदी जगत के लिए प्रसन्नता का विषय है।

*डॉ. कुमार विमल, 96, एम.आई.जी. एच, लोहियानगर, पटना-20*

'गगनाञ्चल' की प्रति प्राप्त हुई। अंक की सामग्री-सज्जा देखकर सुखद लगा। इतना अच्छा अंक निकालने के लिए बधाई स्वीकारें। श्रद्धेय रामनारायणजी का निमाड़ की लोककला पर लिखा लेख प्रमुख आकर्षण कहा जा सकता है। विद्यानिवास मिश्र की लेखनी का क्या कहना? इनके निबंध मुझे सदैव भाते हैं। शेष सभी लेख भी अपने विषय के अनुरूप अनुकूल और पठनीय हैं।

*वसंत निरगुणे, एल 181 कोटरा, भोपाल-3*

'गगनाञ्चल' का जनवरी-मार्च 1993 का अंक यथासमय मिला। इस अंक में लोक साहित्य, लोकतत्व और लोक संस्कृति पर महत्वपूर्ण सामग्री परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत की गई है।

*डॉ. राममोहन पाठक, सूचना एवं जनसंपर्क अधिकारी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

मैं 'गगनाञ्चल' पत्रिका कुछ वर्षों से नियमित रूप से पढ़ रही हूं। परिषद् के किए जाने वाले प्रयासों तथा पत्रिका के प्रति निष्ठा की हमेशा प्रशंसक रही हूं। इसका विशेष कारण यह है कि जितनी यह पत्रिका इस देश में पढ़ी जाती है उतना विदेशों में भी। विशेष

रूप से विदेशों में स्थापित भारतीय भाषा-संस्थानों में इसकी विशेष मांग रहती है क्योंकि उच्चस्तरीय पत्रिका होने के कारण वहां के हिंदी प्रेमी विद्वान एवं छात्र इसमें रुचि लेते हैं। अपने पोलैंड-प्रवास (1987-90) के दौरान वार्सा-विश्वविद्यालय में अध्यापन करते समय मैंने यही महसूस किया कि इस पत्रिका का स्तर बढ़ाने पर विशेष ध्यान रखा जाए, जिससे इसकी मांग में कमी न आए। सौभाग्यवश वार्सा में ही इन दिनों गगनाञ्चल के दो अंक देखने को मिले—लोक संस्कृति अंक तथा राहुल सांकृत्यायन से संबंधित अंक। आशा से अधिक संतोष हुआ। सबसे ज्यादा प्रसन्नता यह हुई कि परिषद् इस पत्रिका की गरिमा बनाने में सतत प्रयत्नशील है।

*मंजु गुप्त, 106 साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नयी दिल्ली-19*

'गगनाञ्चल' का अंक देखा। अब स्तरीय साहित्य के पाठकों के बीच एक अनिवार्य नाम की तरह पत्रिका उपस्थित है। मेरी हार्दिक बधाई। शुभकामनाएं।

*मिथिलेश्वर, महाराजा हाता कतिरा, आरा, बिहार*

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के प्रति 'गगनाञ्चल' में श्रद्धांजलि अर्पित कर आप लोगों ने स्तुत्य कार्य किया है। समाज के प्रति निःस्वार्थ भाव से समर्पित इस विलक्षण घुमक्कड़ ने लगभग सवा सौ ग्रंथ दिए। सही अर्थों में श्रमजीवी मसि जीवी। वे बहुआयामी व्यक्तित्व के लेखक थे। उन्होंने अनेक दिशा में कार्य किया है। नयी प्रतिभाएं उनके निष्ठावान समर्पण से प्रेरणा ले सकती हैं। सांस्कृतिक-समाचार पत्रिका का सराहनीय स्तंभ है।

*डॉ. प्रेमशंकर, ब-16, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)*

'गगनाञ्चल' सुरुचि तथा पठनीयता से भरपूर है। 'बुधली' कहानी बड़ी मार्मिक है। यह नारी मन का गहरा विश्लेषण करती है और साथ ही सामाजिक उपयोगिता को भी प्रस्तुत करती है। शुभकामनाएं।

*इंदु बाली, चंडीगढ़*

यह पत्रिका पूरे विश्व में भारत का प्रतीक है। इसमें आपका प्रयत्न सराहनीय है।

*डॉ. कृष्णा रैणा, 17 टीचर्स कालोनी, समर हिल, शिमला-171005*

'गगनाञ्चल' का जनवरी-मार्च 1993 का अंक मिला। लोकसाहित्य, लोक जीवन और लोक संस्कृति पर इतनी स्तरीय सामग्री के लिए मेरी बधाई और प्रशस्ति स्वीकार करें। डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी का लेख आस्था और विश्वास के जगन्नाथ अत्यंत रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में गगनाञ्चल अपनी पहचान बनाए रखे इस शुभकामना के साथ।

*डॉ. रमा सिंह, इंदिरा नगर, लखनऊ*

# रचनाकार

*यशपाल जैन*

*वरिष्ठ हिंदी साहित्यकार, गांधीवादी विचारक। विदेशों में भारतीय संस्कृति और हिंदी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान। साहित्य की विभिन्न विधाओं में महत्वपूर्ण पुस्तकें।*
*संप्रति : मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली-1*
*संपर्क : 7/8 दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002*

*कमला प्रसाद सिंह*

*लेखक, साहित्यकार। व्यंग्य विधा में विशेष रुचि। रंगमंचीय नाटकों पर महत्वपूर्ण कार्य। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं।*
*संपर्क : कामायनी, प्रोफेसर्स कालोनी, फारबिसगंज, उ. बिहार*

*डॉ. विद्याविंदु सिंह*

*लोकसाहित्य और संस्कृति की प्रख्यात रचनाकार। साहित्य की विभिन्न विधाओं में तेरह पुस्तकें। कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें शीघ्र प्रकाश्य। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से प्रसारण। कई साहित्यिक संगोष्ठियों में महत्वपूर्ण शिरकत। साहित्यक-सांस्कृतिक गति-विधियों से लगाव।*
*संप्रति : उपनिदेशक, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग लखनऊ।*
*संपर्क : 45 गोखले विहार मार्ग, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)*

*गौरी देशपांडे*

*यशस्वी मराठी लेखिका एवं समीक्षक। कहानियों के तीन संग्रह। अंग्रेजी और मराठी पर समान अधिकार। महत्वपूर्ण अनुवाद एवं शोध।*
*संप्रति : पुणे विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यापन।*

*अरूंधती देवस्थले*

*मराठी, अंग्रेजी एवं हिंदी में पत्रकारिता, अनुवाद एवं समीक्षा।*
*संप्रति : साहित्य अकादेमी में सहायक संपादक।*
*संपर्क : रवींद्र भवन, फीरोज शाह रोड, नयी दिल्ली*

*डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत*

*विद्वान लेखक और साहित्यकार। ललित निबंधकार। पत्र-पत्रि-काओं में रचनाएं।*
*संपर्क : ओवरविली, कैथ्यू शिमला-171003।*

| | |
|---|---|
| रामदरश मिश्र | हिंदी कथा साहित्य, काव्य एवं आलोचना के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर। कविता संग्रहों के अलावा एक गजल संग्रह। कहानियों के नौ संग्रह, दस उपन्यास एवं महत्वपूर्ण आत्मकथा पुस्तक।<br>संपर्क : आर. 38 वाणी विहार, उत्तर नगर, नयी दिल्ली। |
| सीताकांत महापात्र | ओड़िया भाषा के सुविख्यात कवि। ग्यारह काव्य संग्रह। कविताओं के भारतीय एवं भारतेतर भाषाओं में अनुवाद। ओड़िया में आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह।<br>इन दिनों सचिव, कार्यक्रम कार्यान्वियन व सचिव राजभाषा भारत सरकार के हिंदी सलाहकार के पद पर कार्यरत हैं। |
| डॉ. राजेंद्र प्रसाद मिश्र | ओड़िया से हिंदी में गहन अनुवाद कार्य। अब तक पच्चीस किताबें। 'रेणु' व गोपीनाथ महांति के कथा साहित्य में आंच-लिकता' पर शोध।<br>संप्रति : नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन नयी दिल्ली में उप-प्रबंधक (राजभाषा) के पद पर कार्यरत। |
| ज्ञानेंद्र पति | संथाल क्षेत्र में एक गांव में जन्म। एक दशक तक बिहार सरकार में प्रशासनिक अधिकारी रहे। कविता की दो पुस्तकें। सुपरिचित कवि के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।<br>संपर्क : 3/12 अन्नपूर्णा नगर, विद्यापीठ रोड, वाराणसी-221002 |
| ऋतुराज | चर्चित कवि। अब तक सात कविता संग्रह। अंग्रेज़ी साहित्य से एम.ए.। इन दिनों 'चायना रेडियो इंटरनेशनल' चीन में भाषा-विशेषज्ञ के पद पर कार्यरत।<br>संपर्क : 1-जे, 30 विकास नगर, बूंदी-323001 |
| रामलखन यादव | विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं प्रकाशित<br>संपर्क : 109, डी पाकिट-बी दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95 |
| कुमार वीरेंद्र | नवोदित कवि।<br>संपर्क : ग्राम भकुरा, पोस्ट-फरना, भोजपुर, आरा, बिहार-802375 |

| | |
|---|---|
| डॉ. सुवास कुमार | कथाकार और आलोचक। आलोचना की चार, दो उपन्यास, कहानी तथा कविता संग्रह की किताबें।<br>संप्रति : रीडर, हिंदी विभाग, सेंट्रल युनिवर्सिटी, हैदराबाद। |
| कुसुम चतुर्वेदी | अवकाश प्राप्त उप-निदेशक, शिक्षा विभाग। सुकरात शिशु कविता संग्रह, जिस पर उन्हें सारस्वत सम्मान से सम्मानित किया गया। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कविताएं प्रकाशित। नया मानदंड की संपादक।<br>संप्रति : सचिव आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान।<br>संपर्क : 12 बी कस्तूरबा नगर, सिंघरा, वाराणसी। |
| डॉ. विजय अग्रवाल | हिंदी साहित्य में एम.ए. करने के बाद स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में सामंती जीवन विषय पर पी-एच.डी.। भाषा और सिनेमा पर लेख। कुछ दिनों तक मासिक 'आजकल' का संपादन।<br>संप्रति : राष्ट्रपति के निजी सचिव। |
| पूरन सरमा | विगत दो दशक से सृजनरत। एक उपन्यास और काव्य संग्रह के अतिरिक्त चार व्यंग्य संग्रह। बालोपयोगी पुस्तकें। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन।<br>संपर्क : 1958 पं. शिवदीन का रास्ता, जयपुर, राजस्थान। |

□